लोक में
भारत की अन्तर्व्याप्ति

डॉ. कपिल तिवारी
नेहा तिवारी

भारत नीति प्रतिष्ठान
India Policy Foundation

प्रकाशक : **भारत नीति प्रतिष्ठान**
डी-51, हौज खास, नई दिल्ली-110016 (भारत)
दूरभाष : 011-26524018
फैक्स : 011-46089365
ई-मेल : indiapolicy@gmail.com
वेबसाइट : www.indiapolicyfoundation.org

संस्करण : प्रथम, नवंबर, 2016

© लेखकाधीन

ISBN: 978-93-84835-14-9

मूल्य : ₹ 80 (अस्सी रुपए)

मुद्रक : आर-टेक ऑफसेट प्रिंटर्स, दिल्ली

भूमिका

लोक पर केन्द्रित इस विनिबन्ध में लोक, लोक की अभिव्यक्ति और संज्ञान का आधार भारतीय जीवन दृष्टि और मूल्यचेतना से ही लिया गया है। पिछले दो तीन दशकों में पश्चिम के 'फोक' की धारणा से अलग, भारत में 'लोक' के तत्वार्थ को अलगाने और उसी की प्रतिष्ठा का प्रयत्न, कुछ लेखकों और स्वतंत्र अधयेताओं ने किया है। फिर भी, भारतीय अकादमिकता और उसी की छाया में विकसित आधुनिक भारतीय प्रबुद्धता, नागर और लोक, लोक और शास्त्र, उन्मुक्त और व्याकरणबद्ध, भदेस और परिष्कृत, शिष्ट और अनगढ़ के उन्हीं चले आते पश्चिमी पैमानों पर इसका मूल्यांकन करती रही है, जो भारत और भारतीय जीवन और उसकी सांस्कृतिक परम्परा का कुपाठ और निषेध है।

लोक परम्परा और संस्कृति के क्षेत्र में लम्बे समय तक कार्य करते, जिस स्वरूप और तात्विकता में लोक मेरी चेतना में प्रकाशित हुआ, वह इन चली आ रही अकादमिक और बौद्धिक अवधारणाओं से एकदम अलग है।

परम्परा को देखने के लिए हमें स्वयं अपनी दृष्टि और बोध की जरूरत है। जब हम परम्परा को पूर्वजों की विरासत मात्र की तरह समझते हैं, तो वह हमारे लिए 'अतीत' और 'अतीत की स्मृति' की तरह हो जाती है। जब हम दूसरों की आँखों से अपनी परम्परा को देखते हैं, तो हम स्वयं अपनी परम्परा के लिए एक 'पराए व्यक्ति' और 'अजनबी' में बदल जाते हैं। परन्तु जब हम अपनी ही आँखों से परम्परा को देखते समझते हैं, तो परम्परा हमारे समय की होकर हमारी हो जाती है। तब न वह हमारे जिए 'अतीत की स्मृति' होती है, और न ही हम उसके लिए एक अजनबी और पराए आदमी होते हैं। तब वह हमारे लिए उसी समय एक 'सनातन का समकाल' रचती है, जिसके जीवन प्रवाह में अनगिनत सदियाँ समय का एक अविच्छिन्न क्रम, तथा हमारी पीढ़ियाँ हमसे सम्वाद की एक आत्मीयता में बदल जाती हैं जिसमें ज्ञान, रचना, मूल्य, संस्कार और दृष्टि की सम्पदा हमारा दाय नहीं, 'हमारा होना' भी हो जाता है। ठीक वैसे ही, जैसे अपनी माँ, अपनी भाषा, अपने स्वाद और अपनी खुशियाँ।

परिवर्तन की शक्ति से चलित देश काल में जैसे जीवन के सभी रूप बदलते हैं, सभ्यताओं के उन्मेष और पतन के साथ जीवन की जय यात्रा एक और जीवन रचती है, वैसे ही परम्परा और संस्कृति की भौतिक रूप रचना भी बदलती है। परन्तु परम्परा की जीवन-दृष्टि और संस्कृति के मूल ज्ञानार्थ का अन्तरंग कभी नहीं बदलता। किसी जातीय परम्परा की 'जीवन दृष्टि' और उसकी छाया में पनपने वाली संस्कृति के मूल आधार नहीं बदलते। वह संस्कृति के हर नए उन्मेषकाल में एक अद्‌भुत नवाचार से 'संस्कृति का एक नया बहिरंग' रच देते हैं। मैं इसी को 'सनातन का समकाल' कहता हूँ और इसी अर्थ में वह अतीत के गौरव का 'पुर्नत्थान' नहीं होती।

लोक की वास्तविक समझ यह है कि वहाँ 'अभी' और 'इसी क्षण' जीवन और जीवन के अनुभव पर आधारित ज्ञान वैसा ही है। 'लोक' का अर्थ है - एक अटूट जीवन राग! जहाँ इस जीवन से मैं सदा के

लिए कोई 'मुक्ति' नहीं चाहता। जीवन सुन्दर है, हज़ार दु:खों और त्रासदियों के बाद भी वह इसी में लौटने के लिए मुझे फिर पुकारता है। कोई नश्वरता और कोई मृत्यु मुझे इस जीवन और उसकी सुन्दरता से विमुख नहीं कर सकती। जिन्हें सदा के लिए कोई 'मोक्ष' चाहिए, लोक उनका घर नहीं हो सकता। लोक के वैकुण्ठ कुछ और हैं। यहाँ जीवन का अस्तित्व माटी और दूब जैसा है, जो अपने ही ढंग के 'नश्वर' और 'अमर्त्य' हैं। लोक उसी की जिजीविषा और उसी का जयघोष है– मंगलगान और उत्सव भी।

रूप चौदस, संवत् 2073 **–कपिल तिवारी**

भोपाल

अनुक्रम

भूमिका *3*

1. लोक की अवधारणा 9

2. राष्ट्र का तात्पर्य 16

3. संस्कृति की अमूर्त विरासत 27

4. राष्ट्र के भीतर लोक का अन्तरंग 55

लोक की अवधारणा

'सत्य' और 'अवधारणा', इन दो शब्दों को समझने के दो तल हैं। किसी भी विषय अथवा वस्तु के संबंध में अवधारणा के क्षेत्र में अपने विचार और अभिरुचि के साथ हम एक सीमा तक स्वतंत्र है, और प्रत्येक व्यक्ति अपनी 'धारणा' बना सकता है।

'सत्य' के संदर्भ में हम अवधारणा की तरह स्वतंत्र नहीं हैं। वहाँ उस विषय या यथार्थ की 'तथ्यता', उसके तथ्य ही निर्णय कर वास्तविक और प्रामाणिक आधार होता है।

भारत में शायद ही कोई व्यक्ति होगा जिसे 'संस्कृति' शब्द से अपने तरह का कोई अर्थबोध न होता हो। हर व्यक्ति को यह महसूस होता है कि वह जानता है संस्कृति क्या है? कुछ शब्द और उनकी वास्तविकता, अतिपरिचय का शिकार होती है- इस अतिपरिचय से ही उस विषय के बारे में कुछ सामान्यीकृत निष्कर्ष नारे बन जाते हैं- हम प्रायः ही सुनते हैं कि ''विविधता के बीच एकता भारतीय संस्कृति की विशेषता है'' तब शायद ही कोई व्यक्ति सांस्कृतिक विविधता के असंख्य जीवन रूपों और शैलियों, स्थानिक पद्धतियों और प्रणालियों को

जानने में उत्सुक होता होगा, ठीक वैसे ही जैसे, हम मानते हैं कि इस अकल्पनीय विविधता के बीच एक ''चमत्कारिक और दृढ़'' एकता विद्यमान है तो भी क्या वह उस सत्य को देखने-समझने के लिए उत्सुक होता होगा कि आखिर वह 'एकता' है क्या?

सदा ही 'अति परिचय' के साथ एक 'अपरिचय' भी यात्रा करता है- अपरिचय के अंधेरे कोने अपने प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करते हैं तब, वास्तविक चुनौती दोहरी होती है-अति परिचय के सामान्यीकरणों और अवधारणाओं की स्वैच्छिक बहुलताओं के बीच अर्थ की वास्तविकता, खोज और प्रतिष्ठा तथा अपरिचय के अंधेरों में जाने का साहस और उद्यम। लोक की वास्तविक अर्थव्याप्ति और अवधारणा के बीच में यही भारी अन्तर है।

लोक का विस्तार

'लोक' शब्द में समाहित भारतीय दृष्टि बहुत व्यापक और विविधवर्णी है। वह जीवन जगत की चाक्षुष वास्तविकता से लेकर जीवन के व्यवहार की सहज पद्धति तक है, जिसे अनेक सदियों में भारतीय समाज ने विकसित किया है, उसमें लोक-आस्था, लोकमूल्य, लोकधर्म, लोकदेवता, लोक अनुष्ठान, लोक भाषाएँ, लोक साहित्य, लोक कलाएँ, लोक-कौशल और शिल्प परम्पराएँ विकसित हुई हैं।

हमारे संज्ञान में, या कहें, समझ में शब्दों के कुछ सुनिश्चित अर्थों को ग्रहण करने की भी एक रूढ़ि बन जाती है- वह चले आते अर्थ है, जिन्हें हमारी चेतना ने ग्रहण किया है 'लोक', 'शास्त्र' और 'राष्ट्र'। 'लोक' और 'शास्त्र' यह दोनों मिलकर हमारे भीतर भारतीय राष्ट्र के स्वरूप की धारणा बनाते हैं, किन्तु, 'लोक' और 'शास्त्र' इन शब्दों और उनके अर्थ हमारी चेतना में कुछ ऐसे ही रचे-बसे हैं- ग्रामीण और नागर, भदेस और शालीन, अनगढ़ और परिष्कृत, वाचिक और लिखित, सहज और व्याकरण बद्ध जैसे भेद इन शब्दों के साथ हमारे मानस में चमकने लगते हैं।

'लोक' और 'शास्त्र' दोनों आखिर एक सुदीर्घ और समृद्ध भारतीय जीवन और ज्ञान, संस्कृति और लालित्य, विमर्श और व्यवहार की जीवन्त परम्परा का भाग है। हमें उन्हें दो परम्पराओं के बजाय एक ही परम्परा की दो धाराओं और रूपों की तरह समझना चाहिए।

वास्तव में जिसे हम अब 'मौखिक' या 'वाचिक' कहने लगे हैं- उसकी, लोक के संदर्भ में विशाल अर्थ व्याप्ति पर विचार करना चाहिए। क्या वास्तव में हमारे देश में केवल भाषा और साहित्य की परम्परा वाचिक है अथवा वाचिक का विस्तार लोक की समग्रता तक है?

क्या भारत की बोलियों के व्याकरण है? क्या हमारे पारम्परिक शिल्प और विविध कौशल विकास की लोक परम्पराओं के कोई सुनिश्चित शास्त्र हैं? क्या खेती-किसानी और दस्तकारियों पर केन्द्रित कोई लिखित पद्धति अथवा शास्त्र है?

कहने का आशय है कि लोक में सारा ज्ञान, व्यवहार भाषा-साहित्य, कौशल, सांस्कृतिक रचना के विविध रूप, आध्यात्मिक विश्वास और शक्तियों के प्रतीक सभी 'वाचिक' है- यदि हम वाचिक को इतने विस्तार में नहीं समझते तो भारत में लोक की अवधारणा और उसके यथार्थ दोनों को समझने में असमर्थ होंगे।

जन-मन में लोक

हमने भारत में परम्परा को 'प्रवाह' का रूपक दिया है एक 'सदानीरा प्रवाह' जो प्रतिक्षण नया, जीवन्त, नवाचारी और प्रासंगिक होता जाता है। उसमें अतीत और समकालीन पीढ़ियाँ और व्यक्ति जीवन और उसका ज्ञान, कलारूप और उसके परिवर्तन, भाषा और उसकी भंगिमाएँ, आस्थाएँ और उसके आश्रय, देवता और उनके पूजा अनुष्ठान, चरित और उनका उर्ध्वगमन, लगातार होता रहता है- हम न तो ठीक अर्थों में उसे केवल 'अतीत' कह सकते हैं और न ही केवल अपना समकाल, उसमें 'समयों की एक समष्टि' है, ठीक वैसे ही जैसे पीढ़ियों के जीवन अनुभव का एक सार हो, जिसे हम अधिक से अधिक मनुष्य जीवन

का समय और उसका सार कहते हैं।

वस्तुतः भारत या कहें 'लोक' संस्कृति के भौतिक रूपों के विकास की वह प्रक्रिया है जिसे भारत की ज्ञान परम्परा के पुरोधाओं ने सत्य की समग्रता में रस का निरुपण कर के जन-मन के बीच प्रवाहित किया। रस पूर्ण जीवनशैली में ही वास्तव में कला माध्यमों में विभिन्न रूपाकार और शैलियाँ, भौतिक संस्कृति के विविध स्तर निर्मित हुए। इस भौतिक स्वरूप से आगे स्मृति, संस्कार, अस्मिता, भाषा, सौंदर्य-बोध, अनुष्ठान और लोकाचार, आस्था और विश्वास, प्रतीक और अभिप्राय, मिथक और कल्पनाएँ, पौराणिक और तात्विक आध्यात्मिक विश्वा, पूर्वज, देवता और मातृ-शक्तियाँ, अनिष्ट करने वाली कुछ दुष्ट शक्तियाँ तथा स्वर्ग-नरक की वास्तविक या काल्पनिक सत्ता, नैतिक-अनैतिक और पाप-पुण्य की धारणाएँ, मूल्यबोध की चेतना, विविध साधना प्रणालियों के विज्ञान और उनके सम्प्रदाय लोक का जीवन और उसकी चर्या का अनुभव लोक के देवता और धार्मिकता, विभिन्न ऋतुओं के साथ जुड़ी पर्व-त्यौहारों और उत्सवों की परम्परा, वाचिक और लिखित साहित्य परम्पराएँ, सम्प्रेषण में बोलियों के अनेक स्तरीय अर्थबोध, आख्यान और चरित्र नायक, मंत्र और कर्मकाण्ड, तत्व दर्शन और उसकी मीमाँसा सब कुछ सांस्कृतिक परम्परा के भाग और उसका समवेत हैं।

भारत की 'लोक संस्कृति' उसके जातीय जीवन परम्परा का 'अन्तरंग' और भौतिक रूपों के विकास का अद्‌भुत 'बहिरंग' दोनों हैं। स्मृति, संस्कार, सम्वेदना और अर्न्तदृष्टि के विकास, के चकित कर देने वाले 'अन्तरंग' में संस्कृति का अदृश्य-सूक्ष्म, मिथकीय और रहस्यपूर्ण है, वहीं अपने 'बहिरंग' में भौतिक संस्कृति हमारे आचरण की पहली पाठशाला, हमारी संस्कृति का पहला पाठ और संस्कार को सीखने तथा धारण करने की शिक्षा, सब एक साथ घटता है। हम जीवन के पहले शब्द पहली भाषा, पहले पाठ, पहली चर्या अपनी माँ से सीखते हैं- अभिव्यक्ति और सम्प्रेषण में भाषा की यह शिक्षा माँ से आरंभ होती है, भावों और विचारों को व्यक्त करने का पहला माध्यम बनती है। लेकिन

वह केवल एक भाषा ही नहीं होता, वह भाषा के पीछे और साथ में सम्पन्न होती एक विशेष संस्कृति की 'दीक्षा' भी होती है।

इस 'संस्कृति दीक्षा' से ही मनुष्य के रूप में हमारा 'मन' निर्मित होता है- 'मन' पर संस्कार की छाप पड़नी शुरू होती हैं- हमारी आस्था निर्मित होती है। अपने देवों और देवियों, अवतारों और ऋषियों, ग्रंथों और शास्त्रों, प्रार्थनाओं और प्रणति के लिए जीवन भर चलने वाली हमारीश्रृद्धा।

मनोलोक के इस सूक्ष्म संसार का विस्तार अकल्पनीय है- यह सतह पर दिखते और फलने-फूलने वाली भौतिक संस्कृति की एक आधारशिला है, दूसरे शब्दों में कहें, तो भौतिक संस्कृति का 'मन' और उसकी 'चेतना' है। संस्कृति के साथ हमारे अस्तित्व और अस्मिता का वास्तविक रूप इसी अन्तरंग में वास करता है। इसकी अर्न्तप्रेरणाओं और सम्वेदनाओं तथा विमर्श की शक्ति से ही भौतिक संस्कृति का विशेष व्यक्तित्व निर्मित होता हैं।

लोक का जीवन-रंग

कोई भी ज्ञान परम्परा और संस्कृति, जीवन के पहले नहीं हो सकती। वही आधारभूत है। सारा ज्ञान और सांस्कृतिक रूप, जीवन में और जीवन के द्वारा संभव हुए हैं। जीवन की परम्परा का अर्थ है- व्यवहार और चर्या। 'लोक' का अर्थ एक तरह से जीवनचर्या और व्यवहार की परम्परा से ही आरम्भ होता है।

लोक का सबसे लाक्षणिक अर्थ होगा - लोक की जीवनचर्या, जिसमें जीवन का सिखाया ज्ञान, जीवन और प्रकृति के सान्निध्य में सीखी और रची गई संस्कृति और इसी संस्कृति की धारा में जिए और रचे गए साहित्य और कलारूप स्वयं को अभिव्यक्त करते हैं। एक अर्थ में 'यह संस्कृति', 'जीवन की धन्यता' और जीवन की 'जय और आनन्द' का मंगलगान है।

जीवन सुन्दर है और मैं जीवित हूँ- मैं जीवन के इस उत्सव में

सबके साथ हूँ- देवता और मातृ शक्तियाँ, सूर्य, चन्द्र, तारे-आकाशगंगाएँ, नदियाँ, पर्वत, वन और सरोवर, अन्न और फल, अकल्पनीय रंगों में अपनी सुवास फैलाते सुन्दर फूल, पशु-पक्षी और सरीसृप, ऋतुओं का जादू, सुन्दर स्त्रियाँ और मासूम बच्चे निष्कलुष हँसी और आने वाला कल हजारों आशाओं से भरा, आश्वासन देते सूर्योदय सा और सबके साथ शब्द का गीत उत्सव, सबके साथ नृत्य का मंडलावृत्त जीवन जिसमें कोई मृत्यु अंतिम नहीं होती। यह असीम विश्वास और स्वयं के पुनः आगमन के बोध से जीवन और मृत्यु के चक्र को कर्म और प्रेम बंधनों की पुनरावृत्ति की मान्यता भारत के लोक को सदा ही एक दिव्यता की छाँव में पालती है।

इसी प्रगाढ़ जीवन अनुराग और कामना के अनन्त ने भारतीय लोक का स्वभाव रचा है। बहुत कठिन जीवन स्थितियों और दुःखों के बोझ ने भी उसकी जिजीविषा और जीवन आसक्ति को समाप्त नहीं होने दिया।

लोक के इस स्वभाव में धरती के जैसी ही कोई धीरज और सहनशीलता है- और आकाश के जैसा खालीपन और निस्संगता। अपने राग में उसे किसी स्वप्न की कोई कामना नहीं होती, यह धरती और अपने लोग उसे स्वर्ग से सुन्दर लगते हैं और अपने विराग की निस्संगता में मृत्यु भी सहज स्वाभाविक लगती है, उसका भी स्वीकार है- लोक परम्परा में प्रचलित मृत्यु गीतों की परम्परा को देखिये, हम 'कायाखोज' के इन गीतों में लक्षित कर सकते हैं- जैसे कोई आदमी जीवन से किसी शिकायत के बिना, फिर से वापस लौटने के लिए कहीं जा रहा हो वापिस लौटने के लिए कहीं जाने के इस भाव ने उसके जगत में 'मृत्यु' को भी एक 'उत्सव' बना दिया है। वह नश्वर के जगत में अपनी नश्वरता को लेकर आश्वस्त और उसका समारोह भी मना लेता है।

भारतीय ज्ञान परम्परा ने सदा से यह स्वीकार किया है कि अपरा प्रकृति के जगत में कुछ भी स्थिर नहीं है। सब कुछ 'काल की गति' से 'गतिवान' और 'परिवर्तनशील' है- इसका नश्वर भी कुछ ऐसा है जो पूरी तरह नष्ट नहीं होता यद्यपि वह प्रत्येक क्षण 'बदल' और 'नष्ट'

हो रहा होता है- जीवन, मृत्यु की ओर तथा अन्तराल से आती ही रहती है। इस जीवन की 'समग्र मृत्यु' और इस 'नश्वरता' का समग्र नाश नहीं होता- यही इसकी 'माया' है और यही इसकी सुन्दरता। कोई, 'मृत्यु' जीवन में मनुष्य के विश्वास को पूरी तरह नष्ट नहीं कर पाती और न कोई नश्वरता 'अनन्त जीवन' के हमारे विश्वास को हिला पाती है- वर्षा की पहली बूँदों के साथ धरती पर जीवन का एक 'आश्वासन' और जीवन की एक 'आशा' फिर फूट पड़ती है। इसी से जीवन के सभी गान बने हैं- हम जीवन के जाते हुए वसन्त का विदागीत पूरा गा भी नहीं पाते और एक नये वसन्त की सुवास हवा में घुलने लगती है।

❐

राष्ट्र का तात्पर्य

राष्ट्र और लोक क्या है–स्वरूप

भारतीय लोक में जैसे 'धर्म' अपनी सांगठनिकता और संस्थाबद्धता के बजाय एक वास्तविक 'धार्मिकता' अधिक है, जो जीवन जीने का एक ढंग और आध्यात्मिक अनुभव का पर्याय है, ठीक वैसे ही इन सामुदायिक परम्पराओं में 'राष्ट्र' की धारणा', 'समाज जीवन में राज्य की भूमिका' से इतर गहरे रूप में गहरे पैठी होती है। यह समाज रहने-जीने की अपनी मर्यादा स्वयं तय करते हैं। अधिकांशतः तो वह पारम्परिक जीवन से आती है, लेकिन सदा ही उसमें लचीलापन, और समय के साथ परिवर्तन करने का नवाचारी खुलापन बना रहता है। सामुदायिक स्वशासन के कारण राज्य या राज्य की शक्ति को इन समुदायों में अधिक दखल देने की आवश्कता नहीं पड़ती।

सारी नागर सभ्यताएँ वास्तव में राष्ट्र और राष्ट्र की शक्ति तथा उत्पादन और विनिमय का मूल लेकर चलतीं और विकसित होती हैं। इसलिए इनमें राज्य के बगैर समाज-जीवन का अस्तित्व और अनुशासन की कल्पना नहीं की जा सकती। राज्य को सदैव सशस्त्र बलों, कानूनों

और विशाल प्रशासनिक ढाँचों की कल्पना भी कठिन है। सामुदायिक स्वशासन और आत्मानुशासन जितना कम होगा राज्य और उसके बल उतने अधिक विशाल और मजबूत होंगे। लोक और जनजातीय समुदायों में 'राज्य' और 'राज्य की भूमिका' सीमित और प्रतीकात्मक होती है। इसी कारण वह समुदाय, प्रतिबंधों और शर्तो के साथ दी हुई स्वतंत्रता के बजाय एक 'नैसर्गिक' तथा अपनी 'अर्जित' की हुई स्वतंत्रता में अधिक हैं। इस स्वतंत्रता का स्वरूप और गुणधर्म इतना अलग है कि तथाकथित नागर 'आधुनिकता' इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते। निश्चित ही इसका मानव चेतना पर गहरा असर होता है। आप जिस तरह 'स्वतंत्रता की सीमा' में रहते हैं, स्वतंत्रता का दायरा भी आपके लिए वही हो जाता है। तब जीवन भी एक और तरह से समाज की रूप-रचना करता है वहां असीम और अबाधित कुछ भी नहीं।

एक संस्था की तरह धर्म और एक 'धार्मिकता' की तरह वास्तविक आध्यात्मिक अनुभव में जो अन्तर होता है वही अन्ततः राज्य, राज्य की भूमिका, राज्य के द्वारा दी गई या निर्धारित स्वतंत्रता और उसके बदले समाज और राज्य के जीवन के लिए आपके कर्तव्यों की अपेक्षा और अधिकार में अभिव्यक्त होती है। सामुदायिक, स्वशासन के समाज और राज्य केन्द्रित समाजों में यही अन्तर है।

लोक की दृष्टि से विचार करें तो, वहाँ 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' की अवधारणा क्या है और कैसी है? क्या ठीक वैसी ही जैसी नागर समाजों में है? क्या राज्य की शक्ति के अपने आधारभूत तत्व के बिना 'राष्ट्र' और 'राष्ट्रीयता' की धारणा और स्वरूप टिके रह सकते हैं?

निश्चय ही अपनी भूमि और उसके लोग, उसका जीवन, सुदीर्घ परम्परा, संस्कृति, ज्ञान, साधना, सर्जना, देवता, विशाल और बहुविध प्रकृति, नदियाँ- पर्वत, वन, क्षेत्र और भाषाएँ, धार्मिकता और पूजा पद्धति के अनेक रूप राष्ट्र की अवधारणा में शामिल होते ही हैं, लेकिन बिना 'राज्य' की आधारभूत शक्ति के, नागर सभ्यताएँ 'राष्ट्र' की कल्पना नहीं कर सकतीं।

आरण्यक और लोकसमाजों में 'राज्य' की सीमित और प्रतीकात्मक भूमिका होने के कारण 'लोक' का भौगोलिक बोध 'जनपदीय' होता है जिसमें एक गहन बोधगम्यता उसकी स्थानिकता के साथ होती है। वह विशाल भौगोलिक क्षेत्र में विस्तारित अनेक जनपदों के भूभागों से विस्तृत एक 'साँस्कृतिक' राष्ट्र होता है। इसीलिए लोक में रहने जीने वाला आदमी 'नागरिक बोध' से आगे अपनी नागरिकता को 'आत्म' तक विस्तारित करता है और अपने राष्ट्रबोध को अपने जनपद, उसके जीवन, उसकी संस्कृति, उसके देवलोक और आध्यात्मिक स्वबोध तक लाकर उसे असीमित कर देता है- यह एक और ही राष्ट्र, राष्ट्रीयता और नागरिकता है।

राष्ट्र-बोध की व्याप्ति

भारत में लोक के अर्थबोध के विस्तार की चर्चा करते हुए जब धरती प्रकृति, नदी, स्त्री गाय और भाषा की षट्मातृकाओं की चर्चा की गई थी, तब एक फैलते और असीम मातृ विस्तार की चेतना में लोक की अवस्थिति को रूपायित किया गया था- जब नागर बोध के 'राष्ट्र' और राष्ट्रीयता- स्वतंत्रता संग्राम में 'राष्ट्र' का एक आद्यबिंब खोज रहे थे, तब अन्ततः उन्हें 'भारत माता' का मातृ प्रतीक ही उसकी अस्मिता और स्वरूप के लिए मिला था- ओजपूर्ण, दीप्त और असीम वात्सल्य से पूर्ण यह मातृ-आद्यबिंब वास्तव में जन्म देने, पालने-पोसने, संस्कारित करने की विराट और गहन मातृ-वत्सलता है, कोई और बिंब इसे इतनी पूर्णता से व्यक्त नहीं कर सकता। भारतीय बोध में इस बिंब की यात्रा, भारतीय ज्ञान परम्परा में 'शक्ति' की अवधारणा और स्वरूप तथा लोक के मातृ भाव विस्तार से ही आधुनिक भारतीयों की चेतना में कौंधा।

इस चेतना का काव्य-गान ही बंकिम और रवीन्द्रनाथ टैगौर की राष्ट्र वंदना का आधार है। हिमालय से हिन्द महासागर तक फैली शस्य श्यामला भूमि, उसके विशाल क्षेत्र और लोग, लोगों के जीवन

की विशिष्टता, उसके पर्वत और नदियाँ, उसके ज्ञान और संस्कृति परम्परा का गौरव-गान ही इस वन्दना की गहन मातृ श्रद्धा है।

समष्टि में यह आद्या शक्ति सृष्टि का आधार और विराट अस्तित्व उन्हीं की करुणा का लीला विलास है- ऐसा ज्ञान की परम्परा को संभव करने वाले महान ऋषियों, तपस्वियों और सिद्धों के प्रकाशानुभव में प्रकट हुआ- हम इतिहास के समय की किसी भी सीमा में ज्ञान की इस सनातनता को बांध नहीं सकते, इसे प्राचीन और अर्वाचीन की किसी अभिधा से सीमित कर उसके 'नित्यता' का बखान नहीं किया जा सकता। 'सनातन' एक अद्‌भुत शब्द है इसका अर्थ है जो 'सदा से था और जो अभी इस क्षण का भी है।' हम उसे न तो पुराना कह सकते हैं और न नया, क्योंकि सत्य पुराना नहीं होता और न ही उसे नया किया जा सकता है। उसे सिर्फ प्रत्येक समय में नए लोग नये तरह से कहते हैं। आखिरकार वह कहनेवाले भी एक दिन पुराने ज्ञान वृद्धों में बदल जाते हैं क्योंकि यही नश्वर संसार का नियम है और तब भी वह ज्ञान उतना ही नया और प्रासंगिक होता है जैसा अपने आविर्भाव के क्षण था, जीवन और ज्ञान की भारत में यही सनातनता है जो प्रतिक्षण एक समकाल बन जाती है।

जब भारतीय धर्म परम्परा को 'सनातन धर्म' की अभिधा में व्यक्त किया जाता है तो, हमारे संज्ञान में यह स्पष्ट होना चाहिये कि यह किसी धर्म के नाम के बजाय 'धर्म की सनातनता' के उपलब्ध लोगों की एक महान परम्परा का माप है जिन्होंने अगणित साधना प्रणालियों, उपास्यों, उपासना विधियों, में रहकर विभिन्न ज्ञान सारणियों का अनेकान्त रचा लेकिन जो सत्य रूप ज्ञान के केन्द्र से सदा एक और अभिन्न थे। वे कभी हजारों स्वरूपों में व्यक्त और प्रकट होती सगुण दिव्यता में और कभी, सभी स्वरूपों को 'शब्द' के निराकार में समेट लेते थे।

उन्होंने आध्यात्मिक अनुभव के लिए, इस धरती पर सबसे अनूठी 'स्वतंत्रता रची' और धार्मिक अनुभव के लिए प्रत्येक मनुष्य

को 'स्वतंत्र' किया।

उन्होंने एक देवता, एक प्रार्थना, एक तीर्थ, एक धर्मग्रंथ, एक साधना, एक चर्चा के बजाय, सैकड़ों मार्ग एक साथ खोल दिये। वे इसमें उत्सुक नहीं थे कि धर्म और धार्मिक अनुभव एकांगी और एकायामी धार्मिक उन्मेष में हों। वे धर्म के सत्य रूप एक्य की हजार रूपों में व्यक्त होती विविधता की एक वास्तविक धार्मिक संस्कृति रच रहे थे।

बहुलता का यह दर्शन ही भारत में संस्कृतियों के बहुरूप में प्रकट होता संस्कृति के सार की भारतीय एकता बनता है। इसी तत्व बोध और उसकी शक्ति ने भारतीय परम्परा को अन्य धर्मों और ज्ञान परम्पराओं के प्रति स्वागतपूर्ण, उदार और समावेशी बनाया, उसने इस उदारता और समावेशी दृष्टि की इतिहास में भारी कीमत अदा की, लेकिन फिर भी उसने सत्य के धर्म, उसी के प्रति अपने विश्वास को नहीं खोया।

राष्ट्र से अभिन्न लोक

भारत में जीवन रूपों की अकल्पनीय विविधता की रचना तो जैसे उसके भूगोल और उसमें संभव होने वाली भौतिक प्रकृति ने ही रच दी। उसके विशाल विस्तार में उत्तर और उत्तर पूर्व की हिमालय पर्वत रचना, मध्य और मध्य-दक्षिण के विस्तीर्ण पठार, दक्षिण पश्चिम तथा पूर्व में विस्तीर्ण समुद्र पश्चिमी क्षेत्र के रेगिस्तानी और रेत क्षेत्र, नदियों के विशाल प्रवाह पथ जो उत्तर से मध्य तथा पूर्व भारत के सर्वाधिक उर्वर भूमि क्षेत्र तथा पूर्वोत्तर से लेकर दक्षिण-मध्य देश के सघन अरण्य क्षेत्र, कृपालु प्रकृति की अद्‌भुत रचना है।

इसका आधार लेकर जीवन रचना में एक अकल्पनीय विविधता बनीं—अन्न, वस्त्र, उद्यम, कौशल, भाषाएँ, कला रूप स्थानिक जनपदीय और आरण्यक जीवन शैलियाँ और रचना, उसके समृद्ध तथा वाचिक रूप, जो शब्द परम्पराओं से लेकर ज्ञान और उद्यम, सौंदर्य की भौतिक

संस्कृति के अनगिन रूप और शैलियाँ तक फैले थे।

विविधता के बहुरूप में 'सांस्कृतिक एकता' की बहुप्रचारिक धारणा स्वयं संस्कृति के भौतिक आधार तक स्वयं को सीमित रखती है। भाषा, काव्य, साहित्य, संगीत, नृत्य-नाट्य चित्र और शिल्प तथा स्थापत्य के अद्‌भुत उदाहरण बनतीं उसकी वास्तु कला- अन्ततः भौतिक संस्कृति की ही रचना है- संस्कृति का यह चकित करने वाला बहुरंग, एक सामाजिक जीवन रचना की संस्कृति से जुड़ा है जिसमें भारतीय तीज-त्योहार, पर्व-अनुष्ठान, ऋतुओं के साथ जुड़े लोकाचार और आस्था के लिए विशाल पौराणिक-देव लोक की रचना शामिल है।

हमें यह समझना चाहिये कि भौतिक संस्कृति का कला-आधार सामाजिक संस्कृति की इसी सतह से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। यह अपने अंतरंग में एक सीमा तक भारतीय साधना और ज्ञान, तथा इसी से प्रेरित एक जीवन दृष्टि की छाया में विकसति होने वाली सामाजिक संस्कृति तथा संस्कृति की सौंदर्य भूमि पर उसकी कलात्मक अभिव्यक्ति का पूरा संसार है। लेकिन यह उसके अंतरंग का केन्द्र नहीं है।

परा और अपरा प्रकृति में फैली इस समष्टि के जीवन रचना और प्राणिक सत्ताओं में व्यक्त और मुखर कल्पनातीत जीवन मनुष्य से कैसे अभिन्न है? केसे चराचर का यह विशाल विस्तार अपनी ही 'ऋत्' से संचालित है? सृष्टि की स्थिति और गति के संचालन की यह स्वमर्यादा कैसे अपरा प्रकृति का बहुरूप जीवन संभव कर देती है?

यदि यह चराचर सत्ता अपने 'स्वधर्म' में स्थित और संचालित है तो क्या यही एक अमूर्त, अदृश्य, सर्वशक्तिमान और कृपालु 'भगवत्ता' है?

क्या मनुष्य ने अपने ही आकार-प्रकार में इस 'सर्वव्यापी भगवत्ता' का भगवान रचा है?

क्या भगवत्ता का विराट उसकी कल्पना विधायी शक्ति में अमूर्त

और निराकार हो जाता है?

प्राणिक सत्ता और मनुष्य के जीवन को यह चराचर सत्ता जैसे रच देती है, इसके पीछे उसका प्रयोजन क्या है?

अपरा प्रकृति तत्वों और गुणों में स्वयं को बरतती, काल और क्षेत्र के अधीन केसे 'नश्वर' की जगत रचना कर देती है? नश्वर के इस जगत में प्रत्येक जीवन मृत्यु के लिए अभिशप्त और अपरिहार्य क्यों हैं?

स्वयं परिवर्तन के महानियम के अलावा इसमें कुछ भी शाश्वत नहीं है?

बनने और मिटने की इस अपरिहार्यता में मानव पुरुषार्थ क्या है? वह कैसे समष्टि के 'जीवन और उसकी चेतना' से जुड़ सकता है?

जिज्ञासाओं और प्रश्नों की इस अकथनीय आकुलता ने उसे 'सत्य' का ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। उसने इस 'ज्ञान' को 'साधना' की विधि प्रणालियों में अपने कठिन तप और अध्यवसाय से पाया। कठिन तप और उससे उससे फलित ज्ञान से अर्जित 'जीवन दृष्टि' ही भारतीय संस्कृति का वास्तविक अन्तरंग और केन्द्र है। सामाजिक संस्कृति रचना और कला रूपों तथा शैलियों में संभव भौतिक संस्कृति रूप, सौंदर्य की भूमि पर इसी 'जीवन दृष्टि अन्तरंग' से अभिन्न रूप में जुड़े हैं। स्वयं सौंदर्य की भारतीय अवधारणाएं, 'ज्ञानात्मक बोध' की इसी 'जीवन दृष्टि की' सहज निष्पत्ति है, जो 'सत्यपूर्ण' है वही 'कल्याण ामय' है, वही 'सुन्दर' है।

'संस्कृति की जीवन रचना' अर्थात सामाजिक की संस्कृति, एक अर्थ में 'जीवन की धन्यता का मंगलगान' और उसका 'जीवन उत्सव' है। एक वास्तविक जीवन प्रणाली जिसमें संस्कृति रची-बसी हो- इसमें जीने वाला आदमी भले ही उसके 'तत्वबोध' को समझने के लिए उत्सुक न हो लेकिन एक महनीय परम्परा के रूप में उसका समारोह मनाता, स्वयं संस्कृति बोध में अभिन्न करता है 'जीवन और उसकी संस्कृति' की सतह पर यह अभिन्नता ही उसे अपनी जड़ों से जुड़े

रहने का बोध और जीवन की चरितार्थता देती हैं- यही वह बिन्दु है जहाँ से एक 'राष्ट्र की अस्मिता' और पहचान के रूप में उसका 'व्यक्तित्व' और स्वरूप निर्मित और स्थापित होता है।

ज्ञान, जीवन-दृष्टि और संस्कृति का यह महान दाय भारत में एक जीवन्त परम्परा है, 'अतीत की स्मृति' नहीं- एक नष्ट हो चुकी जीवन परम्परा की याद नहीं, जिसे सिर्फ पुरास्मारकों में खोजा जाता है- पुराकथाओं में पढ़ा जाता है। जीवन्त परम्परा का उत्तराधिकार एक भारतीय के रूप में हमारे रक्त के साथ धमनियों में बहता है। क्या इस महान दाय की अनुभूति और उत्तराधिकार का गौरव बोध हमारे आधुनिक 'भारतीय' में है? क्या यह सच है कि इन सभी आधुनिकों की अपेक्षा, इनकी दृष्टि में पिछड़े और अनपढ़ तथा अविकसित भारत में यह जीवन परम्परा और बोध अधिक प्रगाढ़ और गहन हैं?

हमें इसके कारणों की खोज करनी चाहिये। हमें भारत पर पिछली सदियों में थोपी गई औपनिवेशिता और उसके स्वरूप पर विचार करते भारतीय जीवन की तथाकथित आधुनिक और आधुनिकीकरण पर भी विचार करना चाहिए। वास्तव में वे जुड़े हुए हैं।

लोक भारत के संदर्भ और आश्वस्ति

लोक संस्कृति के क्षेत्र में गहरे उतरे वह मर्मज्ञ जो मौजूदा जगत के वैश्विक लोकाचार और परिभाषा मूलक दर्शन के अनुगामी, बौद्धिकता के बीच भी दखल रखते हैं, वह सदा 'लोक', 'लोककला' और 'लोक संस्कृति' शब्दों को परिभाषित करने से स्वयं को विलग रखना चाहते हैं। इस परिभाषा की अपेक्षा और माँग कभी स्वयं लोक और लोक कलाकारों ने नहीं की। वास्तव में यह माँग भारतीय अकादिमकता के उन क्षेत्रों द्वारा किया गया जिनका जन्म विशेष रूप से ब्रिटिश राज के दौरान शिक्षा केन्द्रों के रूप में स्थापित हुए और कमोबेश अभी भी 'लोक' और शास्त्र या लोकवार्ता जैसे पदों का उपयोग धड़ल्ले से कर रहे हैं। पहले लोक को 'फोक' कहा गया

और उसकी वाचिक सम्पदा को 'फोकलोर'।

क्या यह सही है कि सुदीर्घ भारतीय वाचिक परम्परा 'लोकवार्ता' के पर्याय में कही और समझी जा सके? क्या भारत में कभी 'ग्रामीण' और 'नागर' जीवन और उसकी अपनी कला परम्पराओं का वैसा भेद रहा है जैसा कि पश्चिम में रहा है और जिसे पश्चिम में विकसित और उसके फैलाए समाजशास्त्र और नृतत्व से देखने की एक दृष्टि और अध्ययन की पद्धति दुनियाभर में फैलायी गयी है? क्या भारत में कभी 'उपयोगी कलाओं' का भेद पश्चिम के जैसा ही रहा है, जिसके चलते सारी भारतीय पारम्परिक शिल्प रचना, कला के क्षेत्र से बाहर हो गई हैं? क्या 'ज्ञान' और 'रचना' की लिखित और मौखिक परम्पराएँ भारत में उसी प्रकार दो स्वतंत्र धाराएँ हैं, जैसी पश्चिम में, जहाँ अब मौखिक परम्पराएँ समाप्त हो गयी हैं?

भारत में स्वयं 'शास्त्र' रचना बहुत सीमाओं तक अपने मूल रूप में 'वाचिक' नहीं रही है? हमारी वैदिक रचनाएं और 'उपनिषद' तत्वत: 'कहे' गए हैं। उनके 'पाठ' लिखित रूप में कालान्तर में ही हुए हैं। कुछ तो कारण रहा होगा कि वह अपने आरंभ में ही लिखे नहीं गये। हमारे देश में 'कथाओं का वह विशाल समुद्र' है, जिसे हम आज पौराणिक साहित्य कहते हैं। उसकी सारी शैलियाँ तत्वत: कथा कहने की परम्परा की 'लोक शैलियों' के समान ही हैं।

पवित्र धर्मग्रंथों में भारतीय ज्ञान परम्परा की सबसे समादृत रचना 'श्रीमद्भगवतगीता', 'श्रीकृष्णोपदेश' के रूप में युद्ध की भीषण आपात स्थिति में 'कही' गयी है। परवर्ती कलाओं के बहुत सारे दार्शनिक विमर्श और स्थापनाएँ मत और मीमाँसा गीता की मूल स्थापनाओं पर आधारित है। यह आध्यात्मिक, दार्शनिक-विमर्श की आधारभूत भारतीय रचना है- जिसे हम 'तत्वार्थ-विमर्श' की 'गंगोत्री' कह सकते हैं।

भारतीय आख्यानों के संबंधों को ही लेकर देखें, उनमें भी लोक की भूमिकाओं पर विचार जरूरी है। उपनिषदों के आख्यान ज्ञान की भूमि पर परम प्रश्नों के उत्तर हैं। उनमें-जीवन और मृत्यु, कर्म और

कर्मफल, प्रारब्ध और नियति, परा और अपरा प्रकृति तथा उनकी शक्तियों-शरीर, मन, बुद्धि, आत्मा अर्थात समग्र मानवीय अस्तित्व और अकल्पनीय विस्तार से फैली सत्ता के विविध रूपों के जीवन की चर्चा है। जिज्ञासु के प्रश्न है, ऋषि के उत्तर हैं। यह उत्तर एक सुन्दर विमर्श से होते हुए किसी एक दृष्टांत या कथा तक आते हैं- जैसे ज्ञान अपने लिए एक 'कथारस' की मांग कर रहा हो और एक छोटी-सी कथा में यह प्रश्न के उत्तर ज्ञान के रस की तरह अपना परिपाक करते हैं। इस पद्धति में ज्ञान का यह साधारणीकरण अद्‌भुत है। कठोपनिषद, छांदोग्योपनिषद आदि में हम इसे सहज ही लक्षित कर सकते हैं।

लोक में आख्यान स्थानिकता के संस्कृति दर्शन हैं- जिसमें एक अंचल की संस्कृति का कथा में ताना-बाना बुना जाता है। यहाँ ध्यान रखने की जरूरत है कि लोक में 'युद्ध आख्यान' और 'प्रेमाख्यानों' के सथ ही पौराणिक कथाओं की पुनर्रचना भी हुई है- लोक की कथा चेतना शास्त्र से कथा आधार लेती अपनी स्थानिकता में जैसे एक बार फिर से उसे रचती और कहती है। शास्त्र और लोक के संश्लेष और परस्पर के इसी क्षेत्र में कितने ही उदाहरण दिये जा सकते हैं।

कहने का आशय यह है- 'लिखित' और 'शास्त्र', 'लोक' और 'वाचिक' की स्थिति और स्वरूप पर हमें अपनी ही दृष्टि और पद्धति से विचार करने की जरूरत है। जब कोई परम्परा अपनी दृष्टि और अपने देश-काल में नहीं देखी-समझी जाती तो उस पर कुछ भी आरोपण होता है और वह प्रायः कुपाठ का शिकार होती है।

विमर्श के लिए हम 'शास्त्र' को लें या 'वाचिक' को वास्तव में हम 'लोक' की ही चर्चा कर रहे होते हैं। अपने आप में परम्परा, विषयों और अर्थों की एक समग्रता है। हम जीवन, ज्ञान, संस्कृति, कला, धर्म-आधयात्म, दर्शन और साहित्य आदि प्रत्येक विषय को 'लोक' में समाहित करते हैं।

जब तक हम अपने 'लोक' में जीते हैं हमारे होने के मायने बने

रहते हैं, हमारा भारतीय होने का बोध ही हमें एक अनूठी आश्वस्ति प्रदान करता है। जीवन की भीषण, त्रासदियाँ हों या सफलताओं की उपलब्धियाँ, रिश्तों की प्राप्तियाँ हों या संसार की विपत्तियाँ लोक में व्याप्त दिव्यता की असीम कृपादृष्टि का मजबूत आधार सदा एक आश्वस्ति में सुख की पुनरावृत्ति को साकार करता है। अपनी जड़ों से जुड़ा होने की प्रतीति देता है। लोक दिव्यता को भी लौकिक का ही भाग बना लेता है।

❐

संस्कृति की अमूर्त विरासत

संस्कृति के बहिरंग का सबसे स्थूल रूप 'सामाजिक संस्कृति' का होता है जहाँ एक व्यक्ति के रूप में हम समाज के साथ और उसके हिस्सेदार होते हैं- यह संबंध का संसार होता है। यहाँ हम अपने परिवार और रक्त संबंधियों के साथ समुदाय के सभी लोगों से एक सामाजिक संबंध में बंधे होते हैं- यहाँ प्रश्न रहने-जीने की मर्यादा, उचित-अनुचित का विचार और सम्यक समय आचरण की 'नीति' का भी होता है- इस स्तर पर संस्कृति अपने को 'मूल्य-बोध की चेतना' में सक्रिय रखती है।

एक मनुष्य के रूप में समुदाय के साथ हमारा जीवन जन्म से मृत्यु तक संबंधित रहता है। समाज के एक नागरिक के रूप में हमारे कुछ कर्तव्य और इसी से प्राप्त कुछ अधिकार होते हैं। इस संसार में हमारी नागरिकता के लिए हमारे परिवार हमें एक विशेष सामाजिक संस्कृति में दीक्षित करते हैं- संबंधों के संसार में हमारे 'आचरण की सभ्यता' की शिक्षा और उसकी परीक्षा दोनों होते हैं- यहाँ भौतिक संस्कृति के सर्वाधिक स्थूल स्तर पर विशेष संस्कृति नीतिशास्त्र और

मूल्यसंहिता का रूप लेती है।

यद्यपि देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि संस्कृति के इस भौतिक रूप का विस्तार बहुत अधिक है और प्रत्येक स्तर पर अर्थात आस्था के प्रथम आध्यात्मिक स्तर से लेकर सौंदर्य रचना के शताधिक रूपों और शैलियों से होती अपने समाज की संस्कृति के निर्माण तक वह एक सम्पूर्ण यात्रा-पथ पूर्ण करती है। लेकिन संस्कृति के स्वरूप और दर्शन की इतनी समझ भर, हमें संस्कृति की इस अमूर्त विरासत का पूरा और वास्तविक परिचय नहीं करवाती। वास्तव में प्रत्येक विशेष संस्कृति का अपना व्यक्तित्व और अपनी निजता का निर्माण, सदा ही संस्कृति के उस अन्तरंग से होता है जो भौतिक संस्कृति रूपों की तरह दिखते नहीं हैं, फिर भी उनसे ही प्रसारित होकर एक भौतिक संस्कृति का सारा स्थूल व्यक्तित्व निर्मित होता है।

लोक का धर्म

सांस्कृतिक परम्परा तो सारा समाज जीता है, रचता है, संरक्षित करता है और उसे अधिक समृद्ध और अर्थपूर्ण बनाकर अगली पीढ़ियों को सौंप देता है। भारत में अध्यात्म और आध्यात्मिक ज्ञान परम्परा, सांस्कृतिक परम्परा और उसके बोध में रूपान्तरित कर दी गई है। कभी-कभी मुझे लगता है कि इस सुदीर्घ यात्रा में भारतीयों के लिए धर्म के बाह्य रूप संभवतः इसीलिए बहुत महत्वपूर्ण नहीं रह गए। धर्म एक आध्यात्मिक अनुभव और सांस्कृतिक जीवन के अधिक सार्थक जगत में स्थानान्तरित हो गया है। एक धर्म को मानने वाले लोगों में यह स्वतंत्रता अनूठी है कि वह अपनी पसंद, अपनी रुचि का एक आध्यात्मिक जीवन जीने के लिए स्वतंत्र हों- वह अपने देवता, अपना धर्मग्रंथ, अपनी प्रार्थना, अपना मंदिर, अपनी पूजा, अपने अनुष्ठान, अपने गुरु और मार्गदर्शक, अपना ध्यान और साधना स्वयं चुन सकते हैं। इसके लिए कभी नियम नहीं बनाए गये और उनका पालन करने की बाध्यता लोगों पर नहीं थोपी गई। सृजनात्मक और

वैचारिक जगत में भी भारतीय देवलोक से अर्न्तक्रिया करने के लिए, उसका विशाल मानवीकरण किया गया, जो इस पूरी पृथ्वी पर अकेला ही उदाहरण है, यद्यपि कुछ लोगों ने इस स्वतंत्रता का बेजा फायदा उठाते हुए, किसी सच्ची सर्जना के सामर्थ्य या विमर्श का साहस दिखाने की जगह, उसका स्पष्ट दुरुपयोग किया है।

इस स्वतंत्रता ने ही हमें धार्मिक-आध्यात्मिक अनुभव और ज्ञान की परम्परा को, एक सांस्कृतिक परम्परा में रूपान्तरित करने के लिए प्रेरित किया। सारा भारतीय समाज जीवन की सांस्कृतिक परम्परा में अपने ज्ञान और आध्यात्मिक सार को, व्यवहार में जीता है।

धर्म और धार्मिक जीवन के क्षेत्र में यह स्वतंत्रता, हमारी ज्ञान परम्परा से ही निर्मित हुई है। इसी के कारण यह संभव हो सका कि भारत में राज्य सत्ता की भाँति कभी धर्म ने स्वयं को एक सत्ता नहीं बनने दिया, और धार्मिक जीवन का रूप सांगठनिक नहीं हो पाया। वह लोगों की निजी आस्था और स्वतंत्रता में, स्वयं अपने आपको और लोगों को आध्यात्मिक अनुभव के लिए मुक्त करता रहा। सांगठनिक धर्मों को मानने वाले लोग, धर्म सत्ताओं, धार्मिक नियमों और कानूनों, धार्मिक आचरण के आदेशों और किसी एक धर्मग्रंथ में उल्लिखित धार्मिक उपदेशों को ही एकमात्र परम सत्यों की भाँति मानने के इतने अभ्यस्त है कि उन्हें एक अर्थ में सनातन धर्म, कोई धर्म ही प्रतीत नहीं होता। एक सीमित धार्मिक स्वतंत्रता के भीतर, आध्यात्मिक बोध की निजता की अपनी व्यक्तिगत स्वतंत्रता उनके लिए कल्पना से परे है।

सनातन धर्म में धार्मिक-आध्यात्मिक बोध की यह निजता और स्वतंत्रता तथा आध्यात्मिक स्वानुभव का संस्कृतिकरण, धर्मों के इतिहास में इस पृथ्वी पर एक अकेला और विलक्षण उदाहरण है। आध्यात्मिक ज्ञान का इतना विशाल और सुदीर्घ समाजीकरण कभी और कहीं हुआ है? किसी संगठित धर्म सत्ता ने आध्यात्मिक स्वानुभव के लिए मनुष्य को इतनी स्वतंत्रता दी है? क्या ज्ञान की सांस्कृतिक परम्परा का जीवन

व्यवहार, भारत से अधिक कोई और देश तथा धर्म विकसित कर पाया? **जो लोग भारतीय संस्कृति की इतनी प्राचीनता और आज भी उसके एक जीवन्त सांस्कृतिक परम्परा होने पर, आश्चर्य व्यक्त करते हुए, इसके कारण कहीं समाजशास्त्रीय इतिहास में ढूँढते फिरते हैं, वह, क्या कभी इस स्पष्ट सत्य को स्वीकारने और कहने का साहस करेंगे कि, यह स्वतंत्रता और सांस्कृतिक निर्मिति इस देश में स्वयं ज्ञान की परम्परा और उसकी शक्ति के कारण ही संभव हुई है?**

लोक के देवता और मातृशक्तियाँ

समष्टि के ज्ञान से उपजी एक सांस्कृतिक परम्परा के भीतर से मानो भौतिक कला रूप स्वयं को रचते हैं और ज्ञान के साथ आध्यात्मिकता के स्वरूपों और प्रतीकों का निर्माण करते हैं। प्रत्येक सांस्कृतिक परम्परा के मूल ज्ञान और सम्वेदना स्रोत, प्रतिकृत होकर ईश्वर और आस्थाओं के विशिष्ट रूपों में स्वयं को व्यक्त करते हैं। अर्न्तप्रेरणा का विश्व सूक्ष्म और अमूर्त है और सम्भवत: इसीलिए स्वयं हर सांस्कृतिक परम्परा अपने सांस्कृतिक बोध के लिए इसी स्रोत पर निर्भर है।

यह स्रोत किसी 'सांस्कृतिक परम्परा के मनोविश्व' का निर्माण करता है, अर्थात वह मनोलोक जो स्मृति और परम्परा में समष्टि के साथ मनुष्य के सम्बन्ध के मूल आध्यात्मिक, आस्थागत मनोलोक की रचना स्वत: करता है। लोक समुदायों की आस्था और प्रेरणा का यह मनोजगत भिन्न-भिन्न है। नागर और अरण्यों में रहने वाले समुदायों के काल-बोध भिन्न हैं। जीवन के प्रति यदि शास्त्रों की छांव तले उत्पन्न हुए नागर समुदायों का विश्वास जगत पारलौकिक है तो अरण्यों में प्रकृति के सान्निध्य में एकप्राण समुदायों की आस्थाएँ विशुद्ध लौकिक हैं।

नागर समुदायों की दृष्टि में आत्मा की पुनरावृत्ति परमात्मा से

एकाकार हो उसी में लय हो जाने तक निरन्तर चलती है, तो अरण्यों में रमने वाले समुदाय प्रकृति से इतर किसी सत्ता की कल्पना ही नहीं करते। इसी काल-बोध और जीवन-दृष्टि से आध्यात्मिक-सांस्कृतिक विश्वास परम्पराओं की दो मुख्य धाराएँ फूटती हैं- पारलौकिक और लोकायत। इसी दृष्टि से विभिन्न लोकाचारों और अनुष्ठानों तथा पूजा के ढंग जुड़े होते हैं और उसके भी पहले भिन्न-भिन्न देवताओं, मातृ शक्तियों, प्रकृति और प्राकृतिक शक्तियों के अनेक रूप तथा पितरों और प्रेतों तथा दुष्ट आत्माओं के अस्तित्व की विशाल सृष्टि की परम्पराएँ मिलती हैं।

पूरे भारत में देवलोक का विस्तार बहुत बड़ा है। यह परासृष्टि में अपनी शक्ति के पूर्ण सामरस्य में स्थिर परम सत्य, परम चैतन्य और परम आनन्द पूर्ण परमब्रह्म से आरम्भ होकर अपरा के त्रित्व में ब्रम्हा, विष्णु, महेश तथा पराशक्ति के स्वरूपों महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती और उनके अवतरणों तक परमेश्वर रूप है। देवताओं, यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों, गणों, योगिनियों, क्षेत्रपालों, लोकपालों और दिक्पालों की अनगिनत सत्ताएँ हमारे चहुँओर एक असीम दिव्यता का निर्माण करती हैं।

नागर और अरण्यों में उत्पत्ति संबंधी कथाओं के साथ देवलोक का कोई न कोई रूप और शक्ति जुड़ी है। प्रस्थान में शिव प्रतीक रूप से काल रूपी नाग को गले में धारण करते हैं। शीश पर (आकाश) गंगा, सोम, हाथ में काल डमरू और त्रिगुणात्मक सृष्टि का द्योतक त्रिशूल है। मृत्युलोक पर टिके उल्टे खट्वांग पर रखे हाथ 'सम' में न्यास के लिए प्रेरित करती रूद्राक्ष की माला के ज्ञान और अध्यात्म का सम्पूर्ण चित्रण है। शिवलिंग महायोगी के स्थायित्व के साथ योनिज सृष्टि का पहल अण्ड, तण्डु (नन्दि) के रूप में ब्रम्हाण्ड की उत्पत्ति कथा कहता है।

वैष्णव प्रस्थान में भी निर्गुण विष्णु सगुण होते ही षड्गुण्यविग्रह रूप लेते हैं। ज्ञान, ऐश्वर्य, भक्ति, बल, वीर्य के तेज की समष्टि

से ही सगुण सृष्टि सम्भव है और वासुदेव के नाम से जन-मन में पूजे जाते हैं।

विभिन्न लोक समुदायों में अनेक देवता ऐसे हैं जिनकी अधिष्ठान प्रकृति के विभिन्न रूपों और मानवेतर प्राणी जगत के विभिन्न वृक्षों में देव और अशुभ शक्तियों तक फैला है। भौतिक ऊर्जापूर्ण स्थूल प्रकृति तथा सूक्ष्म प्रकृति की अभिप्रेरणाओं तक देवलोक का यह विस्तार धार्मिक-आध्यात्मिक जगत, सांस्कृतिक परम्परा और कला रूपों के विकास की यात्रा से जुड़ा हुआ है। अधिकांश देव तत्वत: 'देवता' या 'शक्ति' की धारणा है। इनके स्वरूप का कोई आकार नहीं मिलता यदि हम आरण्यक समुदायों की ओर निहारते हैं तो सभी देव और शक्तियाँ किसी अनगढ़ पत्थर, स्थान, वृक्ष आदि में आयोजित होते हैं, कुछ ऐसे हैं जिनके प्रस्तर, काष्ठ अथवा मिट्टी के माध्यमों से सुनिश्चित स्वरूप हैं। लोक के देवलोक का स्वरूप पौराणिक देवलोक से बिल्कुल भिन्न उसके सहचर देवी-देवताओं की सृष्टि का है। वह असंख्य है।

भारत में मातृ अधिष्ठान

धरती, प्रकृति, स्त्री, नदी, गाय और भाषा- यहाँ तक कि हमारी लोक अवधारणा और मातृसत्ता का विस्तार है। परम्परा ने भारत में मातृशक्ति के दर्शन किये हैं। धरती जो सबकी माता है- कृपालु प्रकृति जिसमें जीवन संभव होता है- नदी, जिनके किनारे सभ्यताएँ जन्म लेती हैं, विकसित होती और संस्कृतियों के विशिष्ट स्वरूप बनते और बदलते रहते हैं। गाय, जिसमें अनन्त कोटि देवता वास करते हैं। वह मनुष्य के अलावा सारे प्राणि जगत की, जो उससे जुड़ा है और जिसके उपकारों और कृपा से जीवन संभव होता है, भाषा जो हम जन्म के साथ माता के सान्निध्य में सीखते और धारण करते हैं- मातृभाषा। संसार के प्रत्येक देश और समुदाय में रहने वाले व्यक्ति की एक मातृभाषा है, जिनके अर्थ और ध्वनियाँ, भंगिमाएँ और बोध हमारे अवचेतन तक फैले हुए हैं- दुनिया की कोई भाषा, भाषा का

ज्ञान तथा उनका अर्थ और काव्यबोध इतनी गहनता में मनुष्य के अस्तित्व तक नहीं जाता।

स्त्री हमें ज्ञान की एक संस्कृति में संस्कारित करती है। ज्ञान के समाजीकरण की पहली शिक्षा, पहली शिक्षक और पहली पाठशाला वह ही है। उनके महान अवदान पर संस्कृतियों का भाग्य निर्भर करता है। ज्ञान के क्षेत्र में लोक का आचरण और ज्ञान की संस्कृति में स्त्रियों की आस्था और रचना ने इस ज्ञान की महान लोक चेतना विकसित की है।

एक लोक की आस्था और आचरण है, दूसरी स्त्रियों की आस्था और रचना।

सांस्कृतिक परम्परा को स्त्रियाँ प्रत्यय या प्रणाली तर्क और भाषिक अर्थ के बजाय, आस्था में समझती हैं। उनके मानस में यह आस्था ही अर्थों को प्रकाशित करती है। वह मनुष्यों को जन्म देती हैं- पालतीं, पोसतीं हैं और इसी क्रम में अपनी आस्था का एक संसार, संस्कार और स्मृति रूप में लोगों को सौंप देती हैं। संसार की कोई भी शिक्षा इतनी अनौपचारिक, इतनी गहन और प्रगाढ़ नहीं हो सकती- एक अर्थ में मनुष्य जीवनभर अपनी माँ में वास करता है, उसी की आँख से देखता है, उसी के हृदय से सुनता है, जब भी वह इन आवाज़ों को जीवन में सुनना बंद कर देता है, एक तरह से अमानवीय, असंवेदनशील, अहंकारी और निराश्रित हो जाता है।

इस षट्मातृकाओं के लोक से ऊपर भारत में सातवीं मातृका भगवती पराम्बा है, जो कई-कई रूपों में शाक्त साधना की तरह अनुष्ठानित और पूजित होती हैं। शक्ति के अनेक रूप, पवित्र माने जाने वाले कई अलग-अलग स्थानों पर स्थापित हैं, जहाँ वर्ष के नियमित दिनों से इतर भी कुछ निश्चित दिनों, पर्व-त्योहारों, अवसरों पर विभिन्न समुदाय के लोग अनुष्ठान सहित पूजा करते हैं। पुजारी, पुरोहित हो या ओझा गुनिया विशेष विधियों, मंत्रों से इन्हें सम्पन्न करवाते हैं।

अनेक देवताओं और महा-शक्तियों की आराधना में 'पशु बलि' का प्रावधान है तो कहीं मद्य अर्पित करने का। इस अनुष्ठान के पीछे, अपने सबसे प्रिय को प्रसन्नतापूर्वक देवार्पित करने से उत्पन्न हुआ होगा। स्वयं को बलिदान करने का यह भाव प्रतीकात्मक रूप में पशु बलि के रूप में शेष है।

देव अथवा शक्ति की अभ्यर्थना के मंत्र अधिकांशतः साबर मंत्रों जैसे हैं, जिनका कोई शाब्दिक अर्थ नहीं होता, तत्वतः मंत्र शब्द न होकर कुछ मूल ध्वनियाँ अथवा उनके समूह हैं। यह ध्वनियाँ अस्तित्व में व्याप्त शक्तियों के अनेक स्तरों के साथ ध्वनि कंपन के माध्यम से सम्बन्ध स्थापित कर लेती हैं। ध्वनियों का यह विशेष उच्चारण आवृत्ति मूलक है, एक आह्वान की तरह। किसी विशेष देवी या देवता के आह्वान में यह ध्वनि प्रार्थना, देव धारणा के मूल भाव में निहित होती है। यह आश्चर्य की बात है कि संसार के प्रत्येक आदिम जनजातीय समूहों में मंत्र परम्परा है तथा आरण्यक समुदायों से इतर लोक और शास्त्र परम्परा की सुपरिभाषित वैदिक और पौराणिक देव परम्परा की पूजा में भी अभ्यर्थना के साथ मंत्रों की एक सुदीर्घ परम्परा अस्तित्व में है। इसे मंत्र देवता कहा गया है। अर्थात यह शक्तियाँ 'ध्वनि धारण' और 'भाव' में निहित हैं जिन्हें विशेष ध्वनि उच्चारणों की निश्चित आवृत्तियों में प्रयोग कर शक्तियों का आह्वान किया जाना है।

इस प्रस्तावना से हम सहज ही समझ सकते हैं कि लोक की ज्ञान परम्परा में 'शब्द' को अस्तित्व का आद्य शक्ति रूप क्यों कहा गया है?

लोक के चरित नायक

मनुष्य के मन और चेतना की समष्टि शक्तियों के शुभ और अशुभ दोनों रूपों की पूर्णता से ही निर्मित है, यह अस्तित्वगत है इसलिए आदिम समूहों की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक प्रेरणाओं से लेकर पौराणिक धर्मों और सुव्यवस्थित दर्शनों तक शक्तियों की यही

समष्टि हमें देखने को मिलती हैं।

मनुष्य अद्‌भुत है वह जीवन में कितना कुछ रचता है और संसार को कितना विस्तृत कर देता है। उसकी अपनी कल्पना-विधायी शक्ति, देवताओं और असुरों को भी रच देती है। पहले वह एक पवित्र अथवा अशुभ धारणा होते हैं फिर यह धारणा मूर्त रूप लेती है और मूर्ति बन जाती है। जिसने रचा, उसका ऋण मानता मनुष्य, देवताओं को रचकर उन्हीं के साथ रहने लगता है, लेकिन वह बिना देवता के रहना नहीं चाहता। संसार सुन्दर है, जीवन बहुविध और आकर्षक, लेकिन बिना देवताओं के सूना है, पर दुष्ट शक्तियों के बिना देवता भी कितने अकेले और सूने सन्नाटे से भरे हैं। रचने की यह मनुष्य क्षमता कितनी अद्‌भुत है, देवताओं तक को रचने से विराम नहीं लेती।

मानव समुदायों में कुछ लोग ऐसे होते हैं जो स्वयं को ही रचना शुरू कर देते हैं, उनका सारा व्यक्तित्व मनुष्य की सीमाओं और रूप, काल और प्रकृति का अतिक्रमण करना शुरू कर देता है- इतिहास के समय में जीते-जागते यह लोग ऐतिहासिक समय से छलांग लगाते हैं और चरित नायक बन जाते हैं।

एक 'चरित' में बदलकर जैसे वह अपने को इतिहास मुक्त कर लेते हैं। उनकी यात्रा नहीं रुकती-अनेक पीढ़ियों तक चरित का यह यश गाते, समय बीतता है, एक दिन वह स्वयं एक लोक देवता के रूप में, मनुष्य की आस्था में प्रकट होते हैं। एक अनश्वर उपस्थिति की तरह, अपने लिए एक गाथा की माँग करते, वह अपनी ही कथा कई पीढ़ियों से सुनते मनुष्यों की प्रार्थना में वास करते हैं।

यह सारी प्राणिक सत्ता में व्याप्त प्रकृति की समष्टि है और मनुष्य में सर्जना की वह समष्टि, जो देवताओं का पूरा लोक रचती, अपने जैसे ही किसी व्यक्ति के देवता बनने तक रुकती नहीं।

लोक का ज्ञान

ज्ञानोन्मेष का पहला और प्राथमिक लक्ष्य 'आत्मबोध' और दूसरा

'लोक' के 'कल्याण' की कामना है। पहले लक्ष्य में वह मनुष्य की चेतना को समग्रता में बदलकर उसकी 'चर्या' हो जाता है और दूसरे प्रयोजन में 'जिज्ञासु' या 'मुमुक्षु' के लिए एक 'सम्बोधि'। इस 'ज्ञान संबोधि' से ही कालान्तर में 'शास्त्रों' की निर्मिति होती है जिसमें इस ज्ञान को संरक्षित करने के साथ बहुत से समयों और पीढ़ियों के जीवन में, प्रश्नों और जिज्ञासाओं के समाधान निहित होते हैं।

ज्ञान परम्परा की सैद्धांतिक प्रस्तावना का भी शास्त्र के रूप में बड़ा मूल्य है। लेकिन अधिक महत्व उस पद्धति का है, जिसमें प्रयोग से कोई 'साधक' अपने अस्तित्व में व्याप्त शक्तियों का उर्ध्वगमन करता है और एक दिन 'मानव संभावना' के समस्त रूप का एक यथार्थ उदाहरण बन जाता है। एक जिज्ञासु और एक साधक का यही अंतर है। जिज्ञासु शास्त्र से काम चला सकता है। कठिनाई हो तो व्याख्याओं और ज्ञानियों की सहायता ले सकता है। लेकिन साधक, शास्त्र के अर्थों में उत्सुक नहीं है, तो आत्मसाक्षात्कार की प्रायोगिक विधियों में व्यवहारिक से एक साधना में है- एक योग्य गुरू उसके मार्गदर्शक हैं और उनका सान्निध्य उसे प्राप्त है, केवल वही एक शिष्ट की वास्तविक संभावना और प्रयोग के खतरों को समझते हैं। अंततः किसी मुहुर्त में उसकी साधना फलित होती है और वह मानव चेतना का शिखर छू लेता है गुरू कृपा का यही अर्थ है- इस क्षण जो अनुभव, जो अनुभूति, साधक के संज्ञान में, प्रकट होती है, उसका कथन उसका सार, उसकी देशना ही एक अर्थ में भारतीय ज्ञान परम्परा के आधारभूत शास्त्रों में प्रकट हुई है। यह अनुमान बौद्धिक तर्क-वितर्क की शृंखला नहीं-सत्य का साक्षात्कार है, इसी से ज्ञान की 'आर्ष परम्परा' बनी है।

भारतीय ज्ञान परम्परा में शास्त्र अपने आप में समष्टि के ज्ञान के साथ ही सौन्दर्य, काव्य संगीत-नृत्य, चित्र और कविता का ज्ञान भी कराते हैं। जीवन के अन्य विविध विषयों पर केन्द्रित सुव्यवस्थित शास्त्र भी बहुतायत से भारत में रचे गए हैं- आयुर्वेद, वास्तुशास्त्र,

स्थापत्य, शिल्प तथा प्राकृतिक और भौतिक विज्ञान के कुछ क्षेत्रों तथा सामाजिकी और मानविकी के शास्त्रों तकं यह विशेष अर्थों में विषय विशेषज्ञता है- यहाँ अर्थ सुनिश्चित हैं- उनका अपना व्याकरण और अनुशासन है।

शास्त्र के मूल पाठों तथा उनके भाष्य और टीकाओं की भी एक विशदशृंखला है, क्योंकि समय और जीवन के परिवर्तन के साथ प्रत्येक समय में शास्त्र को एक नयी व्याख्या या कहें नयी प्रतिसम्वेदना की जरूरत होती है। सुनिश्चित अर्थों के साथ ही, ज्ञान परम्पराओं पर एकाग्र शास्त्र अनन्त अर्थों से भरे हैं। दर्शन भारत में 'फिलॉसफी' नहीं है, वह अपने मूल रूपों में 'सत्य' का प्रकाशानुभव है, जिसे, जिस सीमा तक भाषा और संकेतों तक कहा जा सकता है, अभिव्यक्त करने का यत्न हुआ है। विराट सत्ता के साक्षात्कार का यह अनुभव बहुत विरल है और उससे भी कठिन है, इस अनुभव और अनुभूति को अपनी समग्रता में कह पाना। भाषा की अपनी सीमा है वह अपनी सारी शक्ति लगाकर भी उस अनुभूति का बखान नहीं कर सकती- सौभाग्य से इस देश में ऋषियों की एक विशाल परम्परा ने सत्ता के वास्तविक स्वरूप और जीवन के विराट को कहा है, यहाँ देशकाल की सीमाएँ लाँघी गई हैं और अभिव्यक्ति के प्रत्येक संभव रूप को माध्यम की तरह उपयोग किया है। अनगिनत साधकों, सिद्धों, सृजकों और ज्ञानियों ने जैसे चराचर में व्याप्त सत्ता के विराट रूप जैसे ही मानव अस्तित्व के मूल का भी साक्षात्कार किया और इस अनुभव को पूरी शक्ति से कहा भी।

अपने मूल में ज्ञान की कोई प्रतिज्ञा नहीं थी कि वह किसी को बौद्धिक रूप से सहमत या प्रभावित करे। वह अपने बुनियादी संकल्प में 'मानव चेतना' के 'समग्र रूपांतरण' में उत्सुक था, जिसमें सम्यक और समग्र अर्थ में जीवन और जगत को समझा जाता है और समष्टिगत सत्य में स्वयं अपने सत्य को विलीन करके समग्र की तरह ही हुआ भी जा सकता है। यह दर्शन के बौद्धिक विमर्श

से बहुत अलग बात है। यह रूपांतरण अस्तित्वगत है, इसमें बौद्धिक सहमति-असहमति की कोई अपेक्षा ही नहीं होती। इसी कारण भारत में विभिन्न 'ज्ञान-परम्पराओं' के साथ उनकी 'साधना परम्परा' अविछिन्न है और बिना साधना की परम्परा के हम उस ज्ञान विशेष को नहीं समझ सकते। उनका आग्रह सत्य को समझने में कम, वैसा हो जाने में है- अनुभव करो और हो जाओ।

आगम और निगम दोनों ही धाराओं में रूपान्तरण की इन विधियों का विज्ञान विकसित किया गया है। इसमें कुछ भी ज्ञान लेने के बजाय 'करने' और 'अनुभव' पर बल दिया गया है। यहाँ आस्था की माँग नहीं है- प्रयोग और रूपांतरित होने, अपने को प्रस्तुत करने के साहस की माँग है।

लोक की रचना

जीवन के अनुभव केन्द्रित 'लोक ज्ञान परम्परा' और 'सामुदायिक लोक संस्कृति' का आधार जीवन व्यवहार और आचरण है। सुदीर्घ जीवन क्रम में लोक समाजों ने जीवन से सीखकर अपना संज्ञान धीरे-धीरे विकसित किया है और जीवन की 'धन्यता' की एक 'उत्सवधर्मी' संस्कृति निर्मित की है, यही भारत में सांस्कृतिक रचना का आधार है, जो लोक जीवन के संज्ञान और सौन्दर्य बोध की एक समृद्ध परम्परा है।

इस रूप में एक ज्ञान पर आधारित यह एक ऐसा अनुपम उदाहरण है जहाँ जीवन और संस्कृति रचना के विविध पक्ष अद्‌भुत परस्परता में एक-दूसरे से जुड़े हैं। उन्हें केवल समग्रता में ही समझा जा सकता है। लोक की जीवन परम्परा में वाचिक को व्यवहार की जीवन अनुभव परम्परा की तरह समझना होगा।

एक किसान के पास मिट्‌टी, जल, बीज, मौसम, अन्न और पशुओं की समझ की यात्रा उस अनुभव से जानी समझी गयी है, जो हर पीढ़ी के किसी भी सदस्य तक उसकी अनेक पीढ़ियों और

सदियों के ज्ञान के हस्तांतरण से इकट्ठी की गई है। इस ज्ञान में वह अपने अनुभव से भी कुछ जोड़ता है।

इस विराट जीवनक्रम और संस्कृति रचना में जीवन के अनुभव का ज्ञान, सांस्कृतिक परम्परा का विषय और सौन्दर्य का विचार सब एक साथ चलते हैं। लोक में कला सौन्दर्य के नाम पर ऐसा कुछ भी नहीं जो लोक के जीवन चर्या में उपयोगी न हो। लोक के जीवन में, उसके परिवेश में ऐसा कुछ भी नहीं जो सौन्दर्य और कला के दायरे में न आता हो।

लोक-परम्परा में जीवन शैली और उसके साथ अभिन्न सांस्कृतिक परम्परा को इसलिए एक अविच्छिन्न और अभिन्न क्रम में समझने की जरूरत है। पशुपालक और कृषि समाजों का जीवन, जीविका और सांस्कृतिक बोध आपस में जुड़े हैं। इसी प्रकार में पारम्परिक दस्तकारियों और उनके कौशल के ढंगों को और शैलियों को समझना होगा, जो भारतीय शिल्प कलाओं का आधार है। हर उद्यम और हर कौशल अपनी स्थानिकता की विशेषता लेकर पनपता है। कृषि और पशुपालन से जुड़े औजारों और सामग्रियों के निर्माण भी और धातु, मिट्टी, काष्ठ, लौह तथा वस्त्र परम्पराओं में भारतीय पारम्परिक रूपंकर कलाओं का आधार भी इसी स्थानिकता से विशेषित है। दोनों ही तरह की लोक परम्पराओं में उपयोगी और सौन्दर्यात्मक कलाओं का विभाजन कभी नहीं रहता है। जो कुछ जीवन में उपयोग किया जाता है उसमें कलात्मक सुन्दरता रची जाती है उसमें कलात्मक सुन्दरता रची गयी है। जो सौन्दर्य रचना भी वह उपयोगी भी थी। शायद इसीलिए हम उपयोगी लेकिन विरूप और सुन्दर लेकिन अनुपयोगी से बच सके। बेशक फिर भी ऐसा बहुत कुछ है जो पर्वो, त्योहारों, अनुष्ठानों के लिए आलंकारिक रूप से रचा जाता है जिनका अपना आध्यात्मिक और सांस्कृतिक महत्व होता है।

इस संदर्भ में व्यवहारिक जीवन का ज्ञान, सांस्कृतिक परम्परा के विशिष्ट स्थानिक रूप और कलाएँ, सब एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं

और पूरक भी हैं। यह परस्परता में भारतीय जीवन की रूप रचना का आधार हैं।

इस विराट जीवनक्रम और संस्कृति रचना में जीवन के अनुभव का ज्ञान, सांस्कृतिक परम्परा का विकास और सौंदर्य रचना के विशिष्ट रूप के विस्तार में हमें 'वाचिक' को भी समझना चाहिए। मनुष्यों के जीवन की एक सुदीर्घ परम्परा में जीवन का अनुभव का ज्ञान बना है और उसकी एक विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा भी जिसके भीतर से अभिव्यक्तियों और रूप रचना का एक संसार उद्घाटित हुआ है। न तो जीवन के इन अनुभवों का कोई शास्त्र है, न इस परम्परा का सुनिश्चित रूप और न रूप रचना का कोई व्याकरण। यह वाचिक है जो संज्ञान में है और पूरा कहा नहीं जा सकता। संस्कृति बोध जो संस्कारित करता है, एक विशेष तरह की स्मृति से आपूरित करता हुआ। सौन्दर्य रचना है जो बिना व्याकरण के रूपों की विविधता की रचना करती है।

दूसरी ओर भारत उन शास्त्रों की रचना करता है जहाँ जीवन का आरम्भ और अन्त दोनों ही परा के 'अस्तित्व' का हिस्सा है। इसीलिए वह अपरा के ज्ञान को अपने शास्त्रीय अध्ययन में, शास्त्रीय नृत्यों में, गान में अर्थात, सुरों में, ताल में, प्रस्तर प्रतिमाओं में, शिल्पों में, शस्त्रों में, अस्त्रों में, त्योहारों, अनुष्ठानों, सोलह संस्कारों में ही नहीं अपने स्थापत्यों में भी उतारता है। एक तरह से जीवन की वह व्याकरण रचता है जिसके गुणसूत्र स्वयं ब्रह्म ने रचे हैं। वह सत्य को जानने में (ज्ञान में) और फिर अपनी संस्कृति में ही रच लेता है।

भारत के लोक की अतुल्य संस्कृति की एक धारा पारलौकिकता को प्रतिबिम्बित कर उसे दिव्यता की छाँव में धन्यता को जीने का मार्ग बनाती है तो दूसरी ओर विशुद्ध प्रकृति से एकसार, उन्हीं नियमों में स्वयं का सामरस्य कर लौकिक में रत दूसरी धारा बनाती है।

दोनों ही उत्सवधर्मी है, दोनों ही जीवन के समस्त रंगों को दिव्य प्रसाद मान उस पर अटूट विश्वास का जीवन जीते हैं। शास्त्र यदि

अर्चना में है, तो लौकिक सहोदरी में है।

लोक के उद्यम, कृषि हो या पशुपालन, पीढ़ी दर पीढ़ी, ऋत्बद्ध प्रकृति में अपने अनुभवों से ज्ञान को अर्जित और सम्बन्धित करते हैं, वस्त्रों के धागे, रंग और अंकन प्रकृति से लेकर राष्ट्र का पालन करते हैं।

लोक के कौशल अपनी उपयोगिता को पूरा करने की रचना में भी प्रकृति के ब्रह्माण्ड के, वरदानों को चिन्हित करते हैं।

लोक के मूल्यबोध

भारत में एक ओर लोक वेदों के आर्ष ज्ञान के साथ ही दो महान आर्ष आख्यानों की रचना करता है जो युगों की सीमाएं लाँघते उत्तरोत्तर जीवन और मनुष्य के समस्त सम्भावित भावों, चरित्रों, मूल्यों, नायकों और खलनायकों के उदाहरण से बार-बार परिस्थितियों की परिणितियों के पूर्वानुमान बताते हैं।

भारत में दूसरी ओर लोक अपने आख्यानों में अपने चरित नायकों को गढ़ कर आने वाली पीढ़ियों के लिए मूल्यों और आचरणों के माध्यम से परिस्थितियों के परिणामों के संकेत पहुँचाता है।

अद्भुत रूप से भारतीय आर्ष और अनार्ष, दोनों ही परम्पराओं में 'आख्यान' कथा की एक और ही भूमि पर जाते हैं। वह सिर्फ कथा नहीं होते- वह दिव्य और लौकिक एक साथ होते हैं। उसमें प्रकृति का परिवर्तनशील ऋत, जीवन और परा प्रकृति के अनन्त के समय की एक विचित्र समग्रता है। इन कथाओं में देव-दानव, ऋषि और मनुष्य, पशु-पक्षी और प्राणि सत्ता में मूर्त्त जीवधारियों और प्रकृति के साथ अनेक अद्वैत की एक पूर्णता है- वह कालबद्ध और कालातीत भी है, विशेष स्थानों पर सार्वभौम में भी एक साथ हैं।

इन आख्यानों के महानायक मूल्यों का कोई दर्शन, तत्वमीमाँसा, व्याख्या अथवा प्रस्तावना नहीं करते। वह एक सच्चे जीवन व्यवहार में

है और उनका 'आचरण' ही एक वास्तविक 'दर्शन' है। यह भारतीय समाज और परम्परा का 'मूल्य केन्द्र' है और यहीं से 'आचरण की मर्यादा' और देश, काल, परिस्थिति के अनुसार 'धर्म' का पाठ हमारा देश सीखता है।

क्या 'ज्ञान' जीवन की व्यावहारिक कसौटी पर परखा गया है? एक शब्द है, हमारे देश में 'आचार्य'। यह शब्द उन लोगों के लिए उपयोग किया है, जिन्होंने, ज्ञान को अपना आचरण बनाया। एक अर्थ में जो ज्ञानरूप है, वही आचार्य है।

भारत में आचरण के लिए मूल्यों की किसी संहिता की रचना नहीं की। किसी पुस्तक या शास्त्र में आचरणों की नियमावली गढ़ने की कोई आवश्यकता ज्ञान परम्परा को नहीं महसूस हुई। अपने दो आर्ष आख्यानों के जरिए उसने बस दो उदाहरण रचे। पहला, जब एक राष्ट्र में जीवन के मूल्यों का उठान होता है, वह चरम को छूते हैं, तब मर्यादा का आचरण कैसा होता है।

सुदीर्घ और विराट जीवन परम्परा के महान कालजयी आख्यानों में श्री रामायण के महानायक, भगवान राम, 'मर्यादा पुरूषोत्तम' के रूप में भारतीय जीवन के सबसे बड़े आदर्श और भारतीय मूल्यबोध के पहले वास्तविक 'स्थपति' हैं। 'जीवन मर्यादा' अर्थात ''आचरण की सभ्यता'' के पहले पाठ भारत ने 'राम की कठिन जीवन पाठशाला' से ग्रहण किये हैं। सहस्त्राब्दियों बाद भी भारत 'आचरण की मर्यादा' के 'इस पाठ को ही अपने 'मूल्यबोध' के लिए सर्वश्रेष्ठ पाठ मानता है।

दूसरे उदाहरण के रूप में स्वयं महर्षि व्यास एक और आर्ष आख्यान की रचना करते हैं जिसका नाम है महाभारत जहाँ नायकों के समूह हैं। राष्ट्र में जब समाज के मूल्यबोध रसातल की गहराइयों तक गिरते हैं तो उससे केवल विनाश ही हासिल होता है। न किसी की जीत होती है, न ही कोई हारता है, परिणाम के रूप में केवल दु:ख ही सामने आता है।

एक मनुष्य के रूप में समुदाय के साथ हमारा जीवन जन्म से

मृत्यु तक संबंधित रहता है। समाज के एक नागरिक के रूप में हमारे कुछ कर्तव्य हैं और इसी से प्राप्त कुछ अधिकार भी हैं। इस संसार में हमारी नागरिकता के लिए हमारे परिवार हमें एक विशेष सामाजिक संस्कृति में दीक्षित करते हैं। संबंधों के संसार में हमारे 'आचरण की सभ्यता' की शिक्षा और उसकी परीक्षा दोनों होते हैं। यहाँ भौतिक संस्कृति के सर्वाधिक स्थूल स्तर पर हमारी यह विशेष परम्परा ही नीति शास्त्र और मूल्य संहिता का रूप ले लेते हैं।

लोक में नृत्य

लोकपरम्परा में नृत्यों का विकास दो रूपों में हुआ है- जनपदीय लोक जीवन में कुछ लोकनृत्य 'जातिगत' लोकनृत्य की तरह हैं, और कुछ नृत्य व्यापक रूप से सभी जाति समुदायों के लोग अलग-अलग पर्वों-त्योहारों, अवसर-अनुष्ठानों पर करते हैं। उदाहरण के लिए मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के बुन्देलखण्ड जनपद में पशुपालक अहीर समाज के लोग 'बरेदी' अथवा 'पाई-डण्डा' नृत्य करते हैं- यह दीपावली और गोवर्धन पूजा से जुड़ा एक विशेष नृत्य है। छत्तीसगढ़ में इस नृत्य परम्परा को ही 'राउत नाचा' कहा जाता है। गोपालकों की लोक परम्परा से जुड़े इस नृत्य का केन्द्र कभी ब्रजमण्डल रहा होगा। डॉ. वासुदेव शरण अग्रवाल ने ब्रज के 'हल्लीरास' को सबसे पुराना लोक नृत्य बताया है, जिसके ब्रज परम्परा के इतिहास में उन्हें साक्ष्य भी मिले।

बुन्देलखण्ड में ही 'ढिमरयाई', 'कछयाई' तथा 'कानड़ा' लोकनृत्य गायन परम्पराएँ मूलतः जाति नृत्य-गायन परम्पराएँ हैं। छत्तीसगढ़ में सतनामी समाज के लोग 'पंथी' लोकनृत्य करते हैं, यह नृत्य भी जाति-समुदाय की परम्परा से जुड़ा हुआ है। यह लोग सतनामी गुरु घासीदास जी और उनके 'सतनामी सम्प्रदाय' से जुड़े हैं, जो मूलतः निरगुण परम्परा को मानने वाले हैं। पंथी नृत्य 'तीव्र गति' और अनेक सुन्दर नृत्य मुद्राओं के साथ शारीरिक कौशल की अनेक भंगिमाओं

को अपने में समेटे एक आकर्षक लोक नृत्य है। सतनामी परम्परा में इस नृत्य के साथ निरगुण लोक भजनों की एक परम्परा गीत गायन के रूप में भी जुड़ी हुई है। गुरु घासीदास की जयन्ती के अवसर पर 'गिरोद पुरी' (धार्मिक स्थान) जो सतनामी समाज का प्रमुख तीर्थ है वहाँ 'जैतखाम' या 'जयन्ति स्तंभ' स्थापित किया जाता है। निरगुण परम्परा में 'सत्य रूप' तत्व को माना जाता है किसी स्वरूप या विग्रह को नहीं। इसलिए 'सत्य की जय' के प्रतीक रूप में इसकी स्थापना की जाती है और इसके आसपास एक वर्तुल में सतनामी पंथी नृत्य करते हैं। मध्यप्रदेश के 'निमाड़' अंचल में 'बलाई' समुदाय के लोग 'काठी' नृत्य करते हैं, इसकी नृत्यभूषा बहुत कुछ नेपाल के 'महाकाली' नृत्य की 'गोल घेरदार' नृत्य भूषा से मिलती जुलती है। 'ढाँक' नामक वाद्य का इसमें प्रमुख रूप से वादन होता है और ये नर्तक 'काठी माता' का विग्रह लेकर उनकी चार गाथाओं का गायन करते हुए नृत्य करते हैं। यह आनुष्ठानिक नृत्य परम्परा 'मनौती' के आधार पर होती है। 'काठी का बाना' धारण करना एक शुभ मुहूर्त में होता है और इसका विसर्जन 'सिरवेल महादेव' के मन्दिर (पचमढ़ी) में किया जाता है। किसी अन्य जाति समुदाय के लोग काठी नृत्य नहीं करते।

कच्छ (गुजरात) में सम्पन्न पशुपालक समुदाय के लोगों को 'मालधारी' कहा जाता है उनका पारंपरिक नृत्य 'डांडिया' है। ऐसा प्रतीत होता है कि मथुरा को छोड़कर श्रीकृष्ण ने यदुवंशियों के नये राज्य और राजधानी के रूप में द्वारिका बसाई। उसी समय गोपजनों का ब्रजमण्डल में प्रचलित नृत्य 'हल्लीरास' गुजरात पहुँचा। वहाँ सुदीर्घ लोक परम्परा में 'गरबा' और 'डांडिया' के दो रूपों में इसका विकास हुआ। 'गरबा' महिलाएँ करती हैं, इसके पारम्परिक गीत 'शक्ति पूजा' की लोक परम्परा से जुड़ गए और अवसर बना 'नवरात्रि'। 'डांडिया' मूल रूप से कच्छ की लोक परम्परा से जुड़ा रहा। अपनी विशिष्ट 'कच्छी नृत्य भूषा' और तीव्र गति का यह लोकनृत्य पुरूष करते हैं।

बुन्देलखण्ड में अनुसूचित जाति के बेड़िया समाज में राई नर्तकी को 'बेड़नी' कहा जाता है। यह नृत्य शादी-विवाह और बच्चे के जन्म के शुभ अवसर पर बुन्देली ग्रामीण क्षेत्रों में अत्यन्त लोकप्रिय है। समाजी, वादक समूह विशेष रूप से मृदंग वादक किसी भी जाति का हो सकता है लेकिन 'बेड़नी' प्रमुख नर्तकी के रूप में बेड़िया जाति की ही होती है। व्यापक रूप से यह व्यापक लोक समाज में प्रचलित और जाति आधारित नृत्य परम्परा का लोक जीवन में एक विरल उदाहरण है।

इसी प्रकार राजस्थान में 'कंजर' समाज के लोगों का पारंपरिक नृत्य 'चकरी' है। राजस्थान में ही 'सर्प' पकड़ने वाले लोगों का समुदाय 'कालबेलिया' कहा जाता है- इनका पारंपरिक जातिगत नृत्य 'कालबेलिया' है। 'ढ' और 'ढली' वादन करते पुरूष और तीव्र गति से नृत्य करती महिलाएँ कालबेलिया नृत्य में अनेक कौशलों का भी प्रयोग करती चलती हैं, संभवत: ये प्रयोग परवर्ती काल में इस नर्तन परम्परा से जुड़ते गये। कालबेलिया नृत्य अब सारे संसार में राजस्थान और भारत की एक पहचान जैसा बन गया है।

महाराष्ट्र और गोवा के समुद्र किनारे रहने वाले मछुआरे समुदाय का पारंपरिक नृत्य 'कोली' के रूप में विख्यात है- नाव की पतवार हाथ में लिए अनेक सुन्दर नृत्य मुद्राएँ बनाते कोली स्त्री-पुरूष समवेत इस नृत्य को करते हैं। इसमें मछुआरों की लोक परम्परा के गीतों का गायन भी पारम्परिक कर्णप्रिय धुनों में निबद्ध करके किया जाता है। इन गीतों और धुनों का संबंध समुद्रतटीय जीवन और उसमें रचे-बसे संगीत से आता है।

कर्नाटक में 'वीक शैव' सम्प्रदाय के लोग 'वीरनाट्म' लोक नृत्य करते हैं और यह इस सम्प्रदाय की परम्परा का प्रमुख नृत्य है। 'वीरपूजा' से जुड़े इस नृत्य में घंटियों का वादन किया जाता है, इसमें पुरूष नर्तक होते हैं।

जाति-सम्प्रदायों से जुड़े इन नृत्यों के अलावा लोक जीवन में

व्यापक लोक परम्परा में किये जाने वाले नृत्य-रूप अधिक हैं। इन्हें सभी जातियों और सम्प्रदाय के लोग कर सकते हैं। ये लोक जीवन में विभिन्न अवसर-अनुष्ठानों और त्योहारों पर किये जाते हैं। मध्यप्रदेश में बुन्देलखण्ड के पारम्परिक नृत्य बधाई, नौरता, सैला, मालवा अंचल का 'मटकी' जो 'आड़ा', 'खडा' और 'रजवाड़ी' तीन रूपों में किया जाता है, निमाड़ आंचल का 'गणगौर' राजस्थान का 'झूमर' और 'चरी' गुजरात का 'गरबा' पंजाब का 'भांगड़ा' और 'गिद्दा' हरियाणा का 'झूमर' उत्तरप्रदेश का 'चरखुला' बिहार का 'झिंझिया' असम का 'बिहू,' उड़ीसा में उलखाई, रनपा, सम्भलपुरी, तथा गोटीपुआ नृत्य, मणिपुर का 'महारास', 'बसंतरास', 'लाई हरोबा' नृत्य 'पुंग चोलम' और 'तालमृदंगम' वादन नर्तन और 'नटसंकीर्तन' की लोक परम्पराएँ व्यापक लोक जीवन में सभी करते हैं।

जनजातीय समाजों में पारंपरिक नृत्य परम्परा जातिगत नहीं है। वह नृत्य, समुदाय के सभी लोग मिलकर करते हैं। ये जनजातीय नृत्य भी विभिन्न पर्व-त्योहारों और अवसर-अनुष्ठानों की जनजातीय परम्पराओं का अभिन्न हिस्सा हैं। पूर्वोत्तर राज्यों से लेकर मध्य हिमालयीन जनजातियों, छोटा नागपुर, झारखण्ड की पठारी जनजातियों, संथाल, मुण्डा, हो, उरांव, मध्यप्रदेश की गौंड, बैगा, कोरकू, सहरिया, भारिया, कोल, छत्तीसगढ़ में बस्तर की मुरिया, माड़िया, भतरा, दोर्ला, कंवर जनजातियों तथा मध्यप्रदेश, राजस्थान और गुजरात के भील और राठवा आदि भीली उपजातियों में भी जनजातीय नृत्यों की समृद्ध परम्परा है।

जनजातीय नृत्यों की यह परम्परा, उत्तरपूर्व में असम, मणिपुर, नागालैंड, मिजोरम, मेघालय और अरूणाचल से लेकर धुर दक्षिण के अंडमान-निकोबार द्वीप समूह में रहने वाली जनजातियों तक विस्तारित हैं। शायद ही कोई जनजातीय समूह ऐसा होगा जिसकी अपनी समृद्ध नृत्य परम्परा न हो। यह अभिन्न रूप से एक धार्मिक परम्परा तथा सांस्कृतिक अवसरों से जुड़ी होती है। ये नृत्य समुदाय के सभी सदस्यों द्वारा मिल-जुलकर किये जाते हैं। जनजातीय समुदायों

में नृत्य के ये सभी रूप स्वायत्त कला रूपों की तरह विकसित न होकर, एक जीवन परम्परा का भाग हैं। इसमें जनजातीय आध्यात्मिक विश्वास, देवता, पर्व, पवित्र स्थान और अवसर का बड़ा महत्व है। कुछ नृत्यरूप जीवन की संस्कृति से जुड़े हैं और विभिन्न ऋतुओं, त्योहारों और शुभ अवसरों पर किये जाते हैं। यह नृत्य परम्परा, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सहज करते-सीखते हस्तांतरित हो जाती है, अर्थात परम्परा की निरन्तरता ही सदियों से इसका वास्तविक संरक्षण और विकास करती है। सामान्यतः हम ऐसा सोचते हैं कि ये पारंपरिक नृत्य अपने स्वरूप और विन्यास में सदियों से एक ही तरह से किये जाते हैं, उनमें एक स्थिरता बल्कि अपरिवर्तनीयता है- वास्तव में यह सच नहीं है। एक परम्परा निरन्तर अपना नवाचार करती, नया जीवन और नची रचना बनती है तभी वह कला का समकाल हो सकती है। बिना परम्परा को छोड़े, उसके मूल सार तत्व और सौंदर्य को एक नवाचार, कैसे हर पीढ़ी और हर समय का बना देता है- लोक और जनजाति के पारंपरिक नृत्य उसका विलक्षण उदाहरण हैं।

अधिकांश जनजातीय नृत्यों की 'नृत्य संरचना' की प्रेरणा प्रकृति से आती है, ये गहरे तक उससे प्रतिकृत हैं। नृत्य भूषा और वाद्य यंत्र भी जनजाति समुदाय के लोग ही स्वयं निर्मित करते हैं। इन सभी नृत्यों की मूल संरचनाओं, नृत्य भूषा और वाद्ययंत्रों के प्रयोग के साथ ही नृत्य के साथ जुड़ी वाचिक गीत-रचनाओं का गहन अध्ययन करना जरूरी है। हमें पता करना चाहिये कि जनजातीय नृत्यों के साथ जो वाद्य यंत्र, संगीत के रूप में उपयोग किये जाते हैं उनमें 'ताल वाद्य' इतने केन्द्रीय क्यों हैं? और ऐसा सिर्फ भारतीय जनजातियों के नृत्यों में ही नहीं, बल्कि अफ्रीकी देशों और दक्षिण अमेरिकी देशों की जनजातियों की नृत्य परम्परा में भी है। नृत्य संरचनाओं में प्रकृति के उत्पादनों की जो चर्चा पूर्व में की थी उसका एक उदाहरण पर्याप्त होगा-डिंडोरी (मण्डला) के गौण्ड जनजातीय नृत्य 'करमा' से जुड़े एक नर्तक ने मुझे बताया था कि 'करम' नृत्य कई तरह का है,

उनमें से एक 'लहकी करमा' भी है। यह नाम इसलिए पढ़ा क्योंकि इसमें जो नृत्य मुद्राएँ बनाई जाती हैं, उनकी प्रेरणा तेज हवा चलने पर धान की फसल के पौधों के उसी ओर झुकने और फिर पूर्ववत् हो जाने के सुन्दर दृश्य से ली गई है, इसीलिए उसे 'लहकी करमा' कहते हैं क्योंकि नर्तक भी इसमें नृत्य करते हुए एक ओर झुकते, घिर खड़े होकर दूसरी ओर झुकते हैं। मैं चकित रह गया, क्योंकि वास्तव में उस नृत्य की मुद्राओं में नर्तक वैसा ही कर रहे थे।

जनजातीय नृत्यों में आमतौर से मण्डलावृत्त, अर्धमण्डल और फिर विपरीत दिशा में अर्धमण्डल से मण्डलावृत्त की पूर्ण रचना अद्‌भुत होती है- जिन नृत्यों में स्त्री-पुरूष साथ में नृत्य करते हैं उनमें अर्धमण्डल एक ओर से पुरूष नर्तक और दूसरी ओर से स्त्रियाँ निर्मित करती हैं- फिर दोनों मण्डलावृत्त को पूर्ण करते हैं-यह मानव जीवन-रचना का अद्‌भुत सत्य है-जहाँ स्त्री-पुरूष इसे, नृत्य संरचना का भी एक आधार बनाते हैं। **आश्चर्य है इन नृत्य रूपों और शैलियों की विभिन्न मुद्राओं और संरचनाओं का कोई नृत्य व्याकरण नहीं है, फिर भी उसे हर समय में एक नई पीढ़ी सीखकर इतने सटीक और त्रुटिहीन तरीके से अक्षुण्ण रखती है।**

अधिकांश जनजातियाँ 'अरण्य' से आती हैं और इनके नृत्यों में ताल वाद्य प्रमुख हैं। क्या सघन वनों का भूगोल और प्रकृति ही इसका कारण हैं? अंधेरा और जंगली पशुओं का भय, विशाल ताल वाद्यों की तेज आवाज में जैसे अपनी सुरक्षा की आश्वस्ति और अंधेरे में जलती आग के आसपास जैसे जीवन का एक प्रकाश फिर फैल जाता है। नृत्य के साथ गाये जाने वाले गीतों का भी अध्ययन इसलिए जरूरी है, क्योंकि प्रत्येक नृत्य के साथ गीत का आधार और विषय अलग-अलग हैं। यही जनजातियों की वास्तविक कविता है - नृत्य करती कविता।

प्रसिद्ध लेखक और पत्रकार डाम मॉरेस ने लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व मध्यप्रदेश पर केन्द्रित एक सुन्दर पुस्तक लिखी- 'आन्सर्ड बाय

फ्लूट'। उसमें एक अध्याय, बस्तर की एक जनजाति के सैकड़ों नर्तकों के साथ सारी रात चलने वाले नृत्य के जादुई अनुभव के बारे में है। इस अध्याय का शीर्षक है- 'ड्रम्स आफ्टर डार्क'। नर्तकों के विशाल वृत्त के बीच जलने वाली आग की तेज रोशनी और उसी में चमकते उल्लासपूर्ण चेहरे, अपूर्व शक्ति से भरी देह और उसे दीप्त करती आत्मा का आदिम उल्लास। नृत्य करती इस रात का जैसे कोई अन्त नहीं, जहाँ जीवन और नृत्य एक हो जाते हैं।

बस्तर की ही एक जनजाति दण्डामी माड़ियाओं के 'गौर सींग माड़िया' नृत्य को प्रसिद्ध अध्येता वेरियर एल्विन, भारत में जनजातियों के नृत्यों में सबसे सुन्दर और कलात्मक नृत्य कहते थे।

इस नृत्य की वेशभूषा को मैं, लम्बे समय तक अध्ययन का विषय बनाये रहा। मुझे यह अपूर्व, आश्चर्यजनक और विचित्र तरह से कला बोध से उपजी 'नृत्यभूषा' को अतिक्रमित करती समग्र के एक रूपक जैसी लगती थी।

नर्तक के सिर पर गौर पशु के सींग का एक मुकुट है जिस पर पक्षी के पंख की कलगी लगी हुई है- इसी मुकुट में कौड़ियों की झालकर से नर्तक का चेहरा ढंका है। प्रत्येक नर्तक नृत्य करते एक विशाल मांदर का वादन भी करता है।

इस नृत्यभूषा के मुकुट में लक्ष्य करने जैसा है- 'गौर' पशु धरती पर चलता है- विशाल बलवान पशु जिसके सींग अपने मुकुट में वह बांधे रहता है- पक्षी आकाश में उड़ते हैं जिसके पंख इस मुकुट पर कलगी की तरह खोंसे हुए हैं और कौड़िया समुद्र से आती हैं, जिसकी झालर से नर्तक का चेहरा ढंका है। उसमें धरती, आकाश और समुद्र के रूप में अस्तित्व की एक आश्चर्यजनक समष्टि है, इतनी समग्रता में जीवन को व्यक्त करती नृत्यभूषा मैंने कभी, कहीं नहीं देखी। यही कारण था कि मुझे ऐसा लगता है कि नृत्य भूषा, वाद्ययंत्र और नृत्यों के साथ जुड़ी गीत परम्परा का गहराई से अध्ययन होना चाहिये, उनमें अद्‌भुत रहस्य छिपे हैं।

जनजातीय समुदायों में संगीत, गीत, नृत्य चित्र और शिल्प रचना की समृद्ध परम्पराएँ हैं- लेकिन नाट्य परम्परा नहीं है।

हमें इस पर गंभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये कि ऐसा क्यों है? इसका पहला कारण मानव चेतना के 'प्रकृति बोध' में, और दूसरा 'जीवन बोध की दृष्टि' में छिपा है।

जनजातीय समुदायों का प्रकृति बोध, प्रकृति से एक प्रकार की 'अभिन्नता' और 'अद्वय' में है। वे स्वयं को प्रकृति से भिन्न नहीं समझते। शताब्दियों से प्रकृति के बीच रहते-जीते जंगल, नदी, पर्वत, वन्य पशु, वृक्ष और वनस्पतियों तथा फूलों से उनका संबंध एकमेक है। आश्चर्य है कि जनजातियों में 'प्रकृति' जैसा कोई शब्द ही नहीं है, वे नहीं समझ पाते कि जब हम 'प्रकृति' शब्द कहते हैं तो उसका क्या अर्थ है?

आरण्यक जनजातियों से अलग ग्रामीण लोक समाज प्रकृति से 'अभिन्न' नहीं है। वह उससे 'पृथक' हो चुका है लेकिन सारी प्रकृति उसके लिए 'पवित्र' और 'पूज्य' है। वह उसकी अहेतु कृपा का ऋणी होता और उसका सम्मान करता है। लोक समाज धरती, प्रकृति, नदी, स्त्री, गाय और मातृभाषा के स्त्रैण में लोक की चेतना को धारण करते हैं। इसलिए प्रकृति का प्रत्येक रूप उसे मानव जीवन जैसा ही, बल्कि उससे अधिक महनीय और पावन लगता है।

वहीं आज के नागर समाजों का प्रकृति बोध 'पर्यावरण' का है जहाँ प्रकृति और उसके उपादान, मनुष्य को 'विकास' के संसाधन जैसे लगते हैं। वह असीमित उपयोग की (अ)सभ्य रचना कर, प्रकृति के साधनों और तत्वों का असीमित दोहन करता जाता है। यहां न प्रकृति के साथ कोई 'अभिन्नता' है और न 'भिन्न' होने के बावजूद सम्मान और 'पूज्य' का कोई भाव। वह (प्रकृति) जड़ है, और मनुष्य, मनुष्य के परिवेश और उसकी 'तृष्णा' को तृप्त करने वाली साधनों की एक दुनिया। जिस पर 'विजय' प्राप्त कर मनुष्य ने अपनी 'जय यात्रा' की है। इस भयानक विचार और कुत्सित दृष्टि ने मनुष्य को

'सामूहिक आत्मघात' की देहरी पर खड़ा कर दिया है। आधुनिक मनुष्य का 'पर्यावरण' 'मृत्यु की सूचना' दे रहा है।

प्रकृति के साथ जुड़े दूसरे महत्वपूर्ण कारक के रूप में 'जीवन बोध की दृष्टि' पर भी विचार करना चाहिये।

जनजातीय समुदायों में जीवन अपनी 'गहनता' और 'पूर्णता' में है–यहाँ 'जीवन का अनुभव और अनुभूति है, 'जीवन की आलोचना नहीं'। ग्रामीण लोक समाज 'जीवन बोध की धन्यता' और 'जीवन की आलोचना' में एक साथ हैं। यहाँ जीवन के अन्तर्विरोध, विद्रूप और विडम्बनाएँ भी जीवन बोध के साथ सहयात्रा करती हैं।

नाट्य की पहली संभावना सहीं फूटती है।

जो प्रकृति से 'अद्वैत' में है और इसीलिए 'गहन जीवन बोध' में, वहाँ 'जीवन' होता है 'जीवन की आलोचना दृष्टि' नहीं।

दूसरे, वहाँ ऐसा कोई कला रूप भी संभव नहीं, जिसे सामुदायिक रूप से सभी न कर सकते हों। नाटक के लिए एक 'दर्शक समुदाय और थोड़े से अभिनेता' कर्त्ता के रूप में चाहिये।

संगीत–गायन–वादन और नृत्य में 'प्रेक्षक' नहीं चाहिये, सब 'कर्ता' और सभी अपने 'प्रेक्षक' हो सकते हैं। नाटक में यह संभव नहीं। जैसे प्रेक्षक, वैसे ही 'जीवन की एक आलोचना दृष्टि' के बिना नाटक संभव नहीं। उसमें अकेले 'जीवन की धन्यता' से काम नहीं चलता। लोक समाजों में 'आख्यान के रंगमंच' से 'सामाजिक के नाटक' तक एक एक लम्बी यात्रा पूरी की गई है। यह पौराणिकता की दिव्यता से मनुष्य के दारूण सामाजिक जीवन की आलोचना तक धीरे–धीरे आया है। लोक के रंगमंच में 'दिव्य महानायकों' से 'पूज्य लोक देवताओं' और 'चरित नायकों' से 'इतिहास पुरूषों' तक एक दिलचस्प यात्रा पूरी की गई है, उसकी यात्रा का अन्तिम पड़ाव 'जीवन के विद्रूप का प्रहसन' था, जहाँ वह पिछली सदी से 'ठिठका' खड़ा है।

ख्याल, नौटंकी, सांग, तमाशा, गम्मत, छाहुर, भांड, स्वांग, नाचा, माच, भवई, भारूड़, प्रहलाद नाटक और जात्रा, बिदेसिया, विदापत,

कीर्तनिया, जैसी लोक शैलियों में उसने 'आख्यान' और पुराण के दिव्य देवता, चरित नायक के शौर्य और लोकदेवता के यशगान तक स्वयं को भारत में अनगिनत शैलियों में व्यक्त किया है। परन्तु 'सामाजिक के रंगमंच' तक आते-आते इसमें जीवन बोध की गहनता कम, जीवन के विद्रूप की 'तिक्त हंसी' अधिक हो जाती है। कभी-कभी उसकी आलोचना 'गहन-जीवन अन्तर्विरोध' को व्यक्त करती 'करुणा' तक जाती है, लेकिन अधिकांशतः, जीवन एक शिकायत जैसा ही हो जाता है जिसे, पता नहीं क्यों 'जिया' जाता है।

कुछ जनजातियों में 'शिकार कथा' की नृत्यात्मक प्रस्तुतियों को कभी-कभी जनजातियों की नाट्य परम्परा समझ और कह दिया जाता है। वास्तव में वे नाट्य नहीं है। उन्हें सुदीर्घ गीतों की नृत्यात्मक प्रस्तुति ही कहना चाहिये, जिसमें एक घटना के दृश्यों को सजीव करते गाते हुए नर्तन होता है, यह नाट्य की एक क्षीण संभावना है, नाट्य नहीं, इसलिए इसे व्यापक नृत्य-गायन परम्परा का एक भाग ही मानना चाहिये।

लोक में भक्ति

भारत की आध्यात्मिक और दार्शनिक ज्ञान परम्परा में 'शांडिल्य भक्ति सूत्र', 'नारद भक्ति सूत्र' के अलावा 'श्रीमद्भागवत', 'हरिवंश पुराण' आदि ग्रंथ भक्ति-दर्शन तथा कथा की एक समृद्ध ज्ञान विमर्श परम्परा और आख्यान रचनाएँ हैं। 'भक्ति के शास्त्र' और 'शास्त्र के भाष्य' भी परम्परा में रहे हैं, लेकिन 'भक्ति के ज्ञान की कथा' आख्यानों के माध्यम से भारतीय लोक जीवन और स्मृति में रचने-बसने वाली एक जीवन्त परम्परा है। इसमें ज्ञान को 'जीवन' बनना पड़ता है। अपने हिस्से का सुख-दुख, आशा-निराशा, प्रारब्ध और नियति भोगना पड़ता है- बीते समय की 'स्मृति', 'आज के यथार्थ' और 'भविष्य की आशा', तक फैले समय में निरन्तर मनुष्य के साथ यात्रा करनी पड़ती है। उसके जीवन यथार्थ से गुजरना और स्वप्नों के साथ बहना पड़ता

है। ज्ञान जो शास्त्रों से नहीं, जीवन की कठिन पाठशाला में सीखा गया है और आस्था जो उधारी की नहीं है। बार-बार संशयग्रस्त होकर वह खण्ड-खण्ड नहीं होती। उसे जीवन के 'सत्य' ने दृढ़ किया है।

'आस्था' जो अपार करुणा की आकांक्षी होकर या निर्मल प्रेम में ओत-प्रोत होकर, जीवन के हर-दिन और रात को अर्पण कर अपने परम की कृपा में सराबोर रहती है। भक्ति कभी आँसू बनकर तो कभी शब्द बनकर, कभी नृत्य बनकर तो कभी वादन बनकर, कभी चित्र बनकर तो कभी शिल्प बनकर, कभी काव्य बनकर तो कभी बुनकरी बन कर, अपने सारे भाव, सारी अस्मिता को अपने आराध्य में हर तरह से बस समर्पित करने की अभीप्सा में ही जीती है।

लोकजीवन का जो अनुभव 'सत्य' में है, वही आख्यान के पात्रों और उनके जीवन को लोक के विश्वास में प्रमाणित करता है, इसलिए पौराणिक आख्यान का अर्थ उसके लिए एक आस्था है, वह उसे 'माइथोलॉजी' नहीं समझता, उसके लिए वह धार्मिक या नैतिक 'स्वैर कल्पनाएँ', 'स्वप्न कथाएँ' अथवा अवास्तविक अनैतिहासिक और अप्रमाणिक 'गल्प' नहीं है। इन आख्यानों के सत्यापन के लिए वह इतिहास और यथार्थ पर निर्भर नहीं रहता। वह इसके लिए स्वयं अपने जीवन को एक कसौटी मानता है।

भक्ति की लोक-भूमि और लोक की संत परम्परा पर विचार करते हुए सबसे पहले हमारा ध्यान लोक की सांस्कृतिक परम्परा पर जाता है। हम यह कल्पना नहीं कर सकते। ब्रज की लोक संस्कृति के बिना सूरदास और अष्टछाप के कवियों की रचनाएँ केसे सम्भव थीं? राजस्थानी लोक संस्कृति के आधार पर ही मीरा की वाणी सम्भव हुई। हमें अवधी लोक परम्परा के कारण ही तुलसी और उनकी 'रामचरित मानस' प्राप्त हुए।

मध्यकाल का भक्ति आन्दोलन करोड़ों भारतीयों तक लोकधर्म की शक्ति और उसके विस्तार तथा आध्यात्मिक ज्ञान के संस्कृतिकरण के क्षेत्र में एक विलक्षण उदाहरण है। चार महान वैष्णव आचार्यों ने ज्ञान

की भक्ति परम्परा का दर्शन निर्मित किया और ज्ञान के संस्कृतिकरण की सुदृढ़ आधारशिला रखी, इसमें सर्जकों का एक बड़ा समुदाय जुड़ गया, जो अपनी रचनात्मक ऊर्जा, अभिव्यक्ति के कौशल से ज्ञान की रचना और कलाओं से उसे समृद्ध कर रहा था। उसमें धर्म, जाति, वर्ण, भाषा और क्षेत्र की सीमाओं से बाहर लाखो-करोड़ों लोग जुड़ते चले गए।

रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य और रामानंद जैसे महान साधक आचार्यों और तत्ववेत्ताओं के साथ साथ कबीर, सूर, तुलसी, मीरा, रैदास, स्वामी हरिदास जैसे श्रेष्ठतम साधकों का सहज समर्पण और गहन स्वानुभव लाखो-करोड़ों के जीवन में एक दिव्य आध्यात्मिक प्रेरणा और प्रकाश बन गया। उनकी रचनाएँ लोक के लिए भजन में बदल गई।

जनपदीय भाषाओं में विभिन्न अंचलों में अनेकानेक रचनाएँ कही या लिखी गई। भक्ति के इस लोक में सगुण और निर्गुण भक्ति के दोनों रूप शामिल हैं। यह परम्परा नाथों, सिद्धों, सूफियों, शाक्तों, शैवों के दर्शन और साधना को भी लोक भक्ति का साधन बनाती है और अपने जीवन में स्वानुभव से उपजे 'सत्य के गान' को स्वयं भी रचती है। भक्ति का मार्ग सीधे भक्त के हृदय से निकल उसके प्रकाशरूप आराध्य तक ही जाता है।

❐

राष्ट्र के भीतर लोक का अन्तरंग

भारत संबंधी अपनी टिप्पणियों में कार्ल मार्क्स ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की लूट-खसोट और शोषण की घोर आलोचना करते हुए भी ब्रिटिश साम्राज्य को भारत के आधुनिकीकरण का श्रेय दिया है। प्रसिद्ध मार्क्सवादी आलोचक और चिंतक डॉ. रामविलास शर्मा इससे असहमत थे। 'भारत में अंग्रेजी राज और मार्क्सवाद' तथा 'मार्क्स और पिछड़े हुए समाज' दोनों ही ग्रंथों में उन्होंने स्थापित किया कि भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व ही 'व्यापारिक पूंजी' का निर्माण हो चुका था- भारत माल का निर्यातक देश था। उसके विशाल बंदरगाह और समृद्ध व्यापारिक समुद्री जहाजी बेड़ा मध्य एशिया और यूरोप में, अपने बनाये सामान का निर्यात कर अपनी अर्थव्यवस्था का शक्तिशाली आधार था। स्वाभाविक रूप से यह विशाल व्यापारिक पूंजी और आर्थिक संरचना अपने अगले चरण में औद्योगिक उत्पादन और अर्थव्यवस्था में अपने को बदलती। अंग्रेज और अंग्रेजी उपनिवेशवाद भारत में होता या नहीं- भारत स्वयं अपना आधुनिकीकरण कर लेता। उन्होंने तथ्यात्मक रूप से विश्लेषित करते हुए यह स्थापित किया है कि अंग्रेजों के कारण भारत

के आधुनिकीकरण में बाधा डाली गई और उसे यथासंभव विलंब का शिकार बनाया गया।

सोलहवीं सदी से उन्नसवीं सदी के भारत का समाज उसकी शिक्षा, उद्यम और कौशल, खेती और राजस्व व्यवस्थाएँ, ग्रामीण सामाजिक संरचना तथा प्रशासनिक ढाँचे और उसके तौर तरीकों का अध्ययन करते ख्यात गांधीवादी चिंतक श्री धर्मपाल के अध्ययनों में भी अधिक स्पष्ट प्रामाणिक रूप से इस तथ्य की पुष्टि होती है। ये दोनों ही अध्ययन बहुत मूल्यवान हैं तथा भारत और उसकी स्थिति, भारतीय आधुनिकीकरण और आधुनिकता के बोध को ठीक अर्थों में समझने में हमारी बहुत सहायता करते हैं।

दुर्भाग्य से ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौर में आरंभ हुआ आधुनिकीकरण और उसके आधुनिकताबोध का विकास जिस आयाम में हुआ, उसी की अपरिहार्यता और धन्यवाद हमारे बौद्धिक वर्गों की सामान्य विशेषता है।

औद्योगिक उत्पादन की अवस्था के पहले, भारत ने एशिया में अपनी अर्थव्यवस्था को व्यापारिक पूंजी के निर्माण तक विकसित कर लिया था तो आखिरकार वह अपने उद्यम और कौशल, विधियों और प्रणालियों के बूते ही तो किया था- उधार की तकनीक और सट्टा पूंजी के बूते नहीं। अंग्रेजों के आगमन के पहिले भारत एशिया के देशों और यूरोप को माल का निर्यात करता था। हम सहज ही उसकी समृद्धि और क्षमता को समझ सकते हैं- औपनिवेशिक प्रभुओं ने एक सदी के भीतर इतने स्वावलंबी और मजबूत अधिक ढाँचे को नष्ट किया। उन्होंने कौशल की विविध लोक परम्पराओं को दुष्टतापूर्वक नष्ट कर, लाखों लोगों के रोजगार छीने और उन्हें दयनीय गरीब में बदल कर रख दिया। भारतीय बाजार विदेशी सामान से पट गये- यह देश औद्योगिक उत्पादन के कच्चे माल की खदान और ब्रिटिश सामान की मंडी में बदल दिया गया।

कृषि के लिए आज भी भारत में संसार की सबसे विशाल उर्वर भूमि उपलब्ध है। यह औपनिवेशिक समय में भी थी- उसके आत्मनिर्भर राष्ट्रीय जीवन का आधार। उसे अपने अन्न के लिए किसी पर निर्भर

नहीं रहना पड़ता था- देखते ही देखते, खेती की राजस्व आय को बढ़ाना शुरू किया गया, इसके लिए ग्रामीण भारत पर जमींदारी, रैयतवारी प्रथाएँ लादीं गई। उन्होंने स्वावलंबन के सबसे मजबूत भारतीय आधार को तार-तार कर दिया।

औपनिवेशिक राज व्यवस्था का प्रशासन, न्याय व्यवस्था, शिक्षा, पुलिस और सशस्त्र बल, राजस्व व्यवस्थाएँ, यूरोपीय पैटर्न पर भारत में लागू की गई। पहली बार भारत में सरकार की नौकरी को रोजगार कहा गया, बाकी सब बेरोजगार। इसी को पाने के लिए एक शिक्षा व्यवस्था का ढांचा तैयार किया गया। इसने भारतीय मानस के भीतर अपने होने की आत्मग्लानि पैदा की। उसे इतिहास, समाजशास्त्र, नृतत्व, भाषा, कानून ज्ञान आदि को पढ़ने के नये ढंग बताए गये। इस आतंकित भारतीय को ऐसा लगने लगा कि उसका न तो कोई इतिहास रहा है और न ही कोई परम्परा, न शिक्षा और न उद्यम, हम सदा से पिछड़े और बनना है। हम सदा से पिछड़े और गरीब हैं- हमें यूरोप जैसा आधुनिक और समृद्ध बनना है।

आतंकित और पराभूत भारतीय बौद्धिकता सामाजिक पराभव से मुक्ति के प्रतीकात्मक अभियान चलाकर, कभी सांस्कृतिक पुनरुत्थान का दंभ भरते, भारतीय जीवन और भारतीय परम्परा को समझने पश्चिम के ऐतिहासिक समय के 'इतिहास बोध' और विभाजनकारी समाजशास्त्र और नृतत्व की गोद में जा गिरी। इतिहास, संस्कृति, जीवन परम्परा और दर्शन को समझने वह उन्हीं शोध विधियों पर आश्रित हो गया, जो यूरोप में विकसित हुई थीं। उन्नीसवीं सदी का बहुचर्चित पुर्नजागरण एक बार फिर अपनी समग्रता में विश्लेषित किया जाना चाहिये जिसके संबंध में हिन्दी कथाकार और चिंतक निर्मल वर्मा ने संकेत किया है।

उपनिवेशवाद के विरुद्ध भारत के स्वतंत्रता संग्राम का जैसा अध्ययन किया गया है, ठीक वैसे ही स्वतंत्रता के बाद भारत में औपनिवेशिक व्यवस्था, उसके मूल ढाँचे की निरन्तरता और 'औपनिवेशिक मानस' का गहन अध्ययन किया जाना चाहिये। शायद ही कभी ब्रिटिश शासकों ने

सोचा होगा कि उनके स्वप्न और इच्छाओं तथा कार्य को स्वयं भारतीय इतनी योग्यता और निष्ठा से, उनसे बेहतर और क्रूर तौर-तरीकों से पूरा करेंगें।

ब्रिटिश शासन में आरंभ हुए आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को ही स्वतंत्र भारत में जारी रखा गया है। इस असंतुलित आधुनिकीकरण ने ही भारत को विकसित और पिछड़े भारत में बदलकर रख दिया है। भारत में दो भारत समानान्तर जीवन यात्रा कर रहे हैं- जो आधुनिक बोध इसकी सहज निष्पत्ति था उसने आधुनिकता को ही यूरोप और यूरोपीय ढंग के विकास में, स्थापित कर दिया है। इसके आधुनिक बोध की निष्पत्तियाँ 'लोक भारत' को पिछड़ा हुआ और अपने लिए एक समस्या समझतीं हैं। वह निरक्षर, बीमार, गरीब, अशिक्षित और अंधविश्वासी है। वह दम्भपूर्वक इस भारत को ''आधुनिक जीवन की मुख्यधारा'' में लाने को अपना कार्य मानते हैं, बिना यह जाने कि स्वयं उनके जीवन की मुख्यधारा किसने तय की है? क्या यूरोप ने? अब अमेरिका ने?

'असंतुलित' और 'असमान भारतीय' आधुनिकीकरण ने स्वयं भारतीय जीवन का यह 'दारूण विद्रूप' रचा है, हमारा आधुनिक बोध भी इसी की सहज निष्पत्ति है। एक स्ववन्त्र देश की पराभूत चेतना और बन्दी मानस ने भारतीय औपनिवेशिकता का तथाकथित 'स्वतन्त्र अध्याय' स्वयं अपने हाथों रचा है।

इसी लिए लोक भारत के स्वप्न और इच्छाऐं, प्रतिभा और कौशल, हमारे आधुनिक विकास और आधुनिक बोध में लक्षित नहीं होते, वास्तव में यह 'वास्तविक शक्ति केन्द्र' भारतीय जीवन की दिशा स्वयं तय करते हैं। वह लोक भारत से केवल उसका अनुमादन चाहते हैं - निर्णय नहीं।

भारतीय औपनिवेशिकता का पहला अध्याय 'एक धार्मिक सैन्यवाद की विक्षिप्त हिंसा', बर्बरता, लूटमार, आगजनी और दहशत से भरा रहा, जिस की परिणिति एक जर्जर तन्त्र पर कब्जा कर चार सदियों तक भारतीय जीवन में सत्ता बन कर हुई। औपनिवेशिकता की दूसरी परत व्यापारिक सैन्यवाद के साथ आई। इसने भारतीय बौद्धिक पराभव

का एक नया अध्याय रच डाला। अतीत की औपनिवेशिक बर्बरताऐं इसके आगे फीकी पड़ गई, क्योंकि इसने तो भारत के 'मानस की औपनिवेशिकता' के रूप में भारत की स्वतन्त्र चेतना का अपहरण अपने ही लोगों से करवा डाला। वह आज भी अबाधित और निरन्तर है।

भारत में हम अपने जीवन के वास्तविक प्रश्नों पर विमर्ष करते भारत को, भारत से ही उलझते देखते हैं। प्रश्नों के समाधान स्थगित रहते हैं – और युद्ध चलता रहता है।

क्या भारत ने अपनी आधुनिकता स्वयं रची और स्थापित की है? अथवा उसने पश्चिमीकरण को ही अपनी आधुनिकता के रूप में स्वीकार कर लिया है? औपनिवेशिक मानस ने जिस प्रबुद्धता को देश में रचा है, वह यह प्रश्न पूछने से ही भड़क जाती है।

क्या भारत के पास विकास की काई अपनी दृष्टि और रूपरेखा है?

इस प्रश्न के उत्तर में वह 'वैश्विक' हो उठते हैं! ''क्या हम दुनिया से अलग थलग नहीं पड़ जाएंगे? आखिर हमारे पास विकल्प ही क्या है? हमें दुनिया के साथ कदम मिलाकर चलना है।''...आदि–अनादि।

क्या इस औपनिवेशिक मानस से मुक्त हुए बिना भारत वास्तविक अर्थों में 'स्वतंत्र' हो सकता है?

क्या इसके बिना, औपनिवेशिक शासन से स्वतंत्र हुआ भारत, अपने जीवन की रचना कर सकता है? जैसा उसे वास्तव में करना चाहिये था। क्या हम इस 'आधुनिक प्रबुद्धता' के सहारे अपनी 'परम्परा' के 'जीवन' उसके 'ज्ञान' और 'सामर्थ्य' को समझ सकते हैं?

क्या अपने 'कालबोध' और 'परिप्रेक्ष्य' के बिना हम भारतीय परम्परा को 'इतिहास के समय', 'क्रमिकता की विकास दृष्टि' तथा 'समाजशास्त्रीय' और 'नृतत्व की आधुनिक समझ' के सहारे अपनी पूर्णता में व्याख्यायित कर सकते हैं?

भारत के 'समग्र आधुनिकीकरण की चुनौती' का सामना क्या केवल थोड़े से 'मेट्रो' शहरों और उसी के आसपास जमा होती समृद्धि से हो सकता है?

क्या हम स्वतंत्र देश के 'न्यायपूर्ण और संवेदनशील' प्रशासन की रचना भारत की जनता के लिए कर सकते हैं?

क्या हम 'प्रकृति' को क्षति पहुँचाए और नष्ट किये बिना 'विकास' की एक 'वास्तविक दृष्टि' और 'संरचना' को यथार्थ में बदल सकते हैं।

क्या हम यूरोपियन दृष्टि के इस मूर्खतापूर्ण दम्भ से 'मुक्त' हो सकते हैं, जो 'प्रकृति पर विजय', 'सृष्टि के केन्द्र में मनुष्य' तथा 'संघर्ष के लिए सदा एक शत्रु या शैतान' को साथ लिए चलती हैं। क्या संसार में हमारा रास्ता 'शक्ति के वर्चस्व' से होता 'विश्व शक्ति' बनने के पश्चिमी दंभ से अलग हो सकता है, युद्ध जिसकी स्वाभाविक परणति है?

क्या हम मानव जीवन की ही तरह सारी प्राणिक सत्ता के जीवन के प्राकृतिक अधिकार को स्वीकार करते हैं? जो मनुष्य ने अपनी लालसा के कारण उससे छीन लिया है? 'सब कुछ मनुष्य' और उसके 'विकास' के लिए है- 'सारे प्राणी हमारा भोजन हैं।'

इस समय धरती की अस्तित्व रक्षा, प्रकृति का जीवन बचाने और पर्यावरण के भारी असंतुलन से जो प्रश्न मनुष्य को घेरे हैं, उनका उत्स पूर्वोक्त जीवन दृष्टि में ही निहित नहीं है? इसकी वैश्विक मान्यता और स्वीकार ने क्या वास्तव में मनुष्य जाति को 'सामूहिक आत्मघात के कगार' पर खड़ा नहीं कर दिया है?

स्टीफन हाकिन्स जैसे वैज्ञानिक दो वर्ष पूर्व हांगकांग में वैज्ञानिकों के सम्मेलन को सम्बोधित करते हुए कह रहे थे- ''मैं साफ तौर पर देख सकता हूँ कि मनुष्य विकास के लिए धरती-प्रकृति के साथ जो कर रहा है उसकी वजह से इसका जीवन बमुश्किल पचास-साठ वर्ष बच सकता है- मनुष्य को अपने रहने के लिए विशाल अंतरिक्ष में एक और पृथ्वी खोज लेनी चाहिये।''

यह हमारे समय की सबसे बड़ी वैज्ञानिक प्रतिभा की चेतावनी है, किसी भविष्य वक्ता का ज्योतिषीय कथन नहीं- वैज्ञानिक समझ का दावा करने वाली आधुनिकता कम से कम इस चेतावनी को दरकिनार नहीं कर सकती।

भारतीय 'राष्ट्रात्मा' की शक्ति 'ज्ञान की इस महान उद्घोषणा' में निहित हैं कि 'सारी समष्टि एक' चमत्कारिक संतुलन में है। वह जीवन को संभव करने वाली परम्परा से बंधा हुआ किन्तु अपने-अपने अस्तित्व में स्वायत्त है। प्रत्येक जीवन, मनुष्य से प्राणी और वनस्पति तक अस्तित्व की महान रचना है, काई भी इसका 'नियता' और 'अधिपति' नहीं हो सकता।

उसकी सामाजिक संस्कृति, संस्कृति के निहितार्थ को 'प्रकृति के ऋत' में समरस कर अपने लिए 'धन्यता और आनंद की जीवन रचना' कर सकती है, उसे यही करना चाहिये।

समाज जीवन में 'सहकार और परस्परता' ही 'सामुदायिक जीवन का मंत्र' है बिना 'सामुदायिकता के समाज' केवल लोगों के झुंड होते हैं, जो सिर्फ अपने लिए जीते हैं।

एक 'वास्तविक आध्यात्मिकता का अनुभव' ही 'यथार्थ धार्मिकता' है। धर्म - धर्मसत्ताएँ होकर इस सार को खो देती हैं।

जो स्वयं मुक्त हैं वे ही दूसरों को भी 'मुक्त' कर सकते और दूसरी की मुक्ति का सम्मान कर सकते हैं।

भारतीय राष्ट्रीयता की यह 'राष्ट्रात्मा' भारतीय साधना और ज्ञान के संसार से आई थी। इसकी संबोधि अकेले भारतीय के लिए नहीं थी-यह एक 'सच्ची विश्व नागरिकता' का संसार में पहला घोषणा-पत्र था। इसीलिए भारतीय राष्ट्रीयता, भूमि का अनुग्रह मानते हुए भूगोल की सीमा से नहीं बंधी। वह नस्लीय श्रेष्ठता के दंभ से मुक्त रहीं जिसने दुनियां में किसी जाति, वर्ग अथवा त्वचा के रंग के आधार पर मानव श्रेष्ठता घोषित की और शेष सभी को बाध्य किया कि वे उस मूर्खतापूर्ण और काल्पनिक श्रेष्ठता का स्वीकार करें। उसकी 'राष्ट्रीयता का राज्य' सीमाओं के असीमित विस्तार की लालसा में अन्य राष्ट्रीयताओं का अपहरण नहीं करता था। जैसे स्वयं प्रकृति ने ही उसे अपने विस्तार में सीमाबद्ध किया हो-हिमालय और विशाल सागर, पश्चिम के रेगिस्तान के विस्तार और फिर पूर्व को घेरे समुद्र।

राष्ट्रवादी की 'अवधारणा' और स्वरूप की आलोचना करने वाले आधुनिक क्या यह समझने का कष्ट करेंगे कि भारत के लिए 'राष्ट्र की अस्मिता' और 'राष्ट्रीयता की पहचान' के मानक यूरोपियन उग्र राष्ट्रवाद, अथवा 'नस्लीय श्रेष्ठता' का दम्भ भरने वाली 'युद्धोनमादी' राष्ट्रीयता से नहीं, प्रत्युत प्रत्येक जीवन का स्वीकार करने वाली एक सच्ची 'विश्व राष्ट्रीयता' है जो मानव शक्ति और चेतना के उन्मेष की श्रेष्ठता के अलावा और किसी श्रेष्ठता का स्वीकार नहीं करती। उसने कभी यह दावा नहीं किया कि 'शक्ति और चेतना के उन्मेष' का विशेषाधिकार सिर्फ भारत के पास है उसने सदा इसे धरती के प्रत्येक मनुष्य के 'सहज और अस्तित्वगत आधार की तरह ही मान्यता दी।

ज्ञान की इस 'आधार समष्टि' को भारतीय लोक जीवन ने अपनी सहज आस्था बनाया–और शास्त्र से बाहर 'जीवन की भीषण और कठिन पाठशाला' में सीखी शिक्षा को अपने ज्ञान का आधार बनाया। शास्त्र और लोक के दो रूपों में 'ज्ञान का यह केन्द्र एक भारतीय की 'आस्था' और 'आचरण की मर्यादा' दोनों ही है।

❐❐❐